श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ९९

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० } सितम्बर १९७२ आश्विन सं०–२०२९ { मूल्य : २. रु०

मुद्रक—बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठाङ्क
१. संस्मरण (१८)	...	१
२. ब्रह्म, अमृत, अथर्वशिर और अथर्व शिखोपनिषद्-सार		२०
३. मैत्राण्युपनिषद्-सार	...	३२
४. कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-सार (१)	...	३७
५. कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-सार (२)	...	४८
६. कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-सार (३)	...	६१
७. बृहज्जाबालोपनिषद्-सार	...	६९
८. नृसिंह पूर्वतापनीय-उपनिषद्-सार	...	८१
९. नृसिंहोत्तर तापनीयोपनिषद्-सार	...	८८
१०. कालाग्नि रुद्र और मैत्रेयी उपनिषद्-सार	...	९६
११. सुबालोपनिषद्-सार	...	१०८
१२. क्षुरिका, मन्त्रिका तथा सर्वसारोपनिषद्-सार		१२१
१३. निरालम्ब, शुकरहस्य और वज्रसूचिक उपनिषद्-सार		१३४
१४. तेजोबिन्दु-उपनिषद्-सार	...	१५५
१५. नादबिन्दु-उपनिषद्-सार	...	१६७
१६. ध्यानबिन्दु-उपनिषद्-सार	...	१७८

संस्मरण

[१८]

(झूसी से रामघाट तक)

अहिंसया पारमहंस्यचर्यया
स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना । —
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया
निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च ॥*
(श्री० भा० ४ स्क० २२ अ० २४ श्लो०)

छप्पय

जब तक दुख को सहन स्वयं अनुभव नहिं होवे ।
करै तितिक्षा नहीं द्वन्द्व सहि स्वयमन जोवे ॥
तब तक ज्ञान यथार्थ न होवै तन न सहे बिन ।
तातैं अनुभव करन हेतु विचरत मुनि त्रिभुवन ॥
जब अनुभव होवे स्वयं, होइ आत्मवत भाव तब ।
औरनि दुख सुख आत्मवत, समुझै साधक सत्य तब ॥

---

* महामुनि सनत्कुमारजी महाराज पृथु को भगवान् मे प्रीति होने के उपाय बताते हुए कहते हैं—"राजन् ! जीव मात्र में अहिंसा का भाव रखने से, परमहंसो की जो चर्या है उसका अनुकरण करने से, आत्महित की स्मृति करते रहने से, भगवान् मुकुन्द के जो पावनचरितामृत हैं उनका आस्वादन करने से, निष्कामभाव से यम नियमो का पालन करने से, किसी की निन्दा न करने सें, निरीह बने रहने से—जो मिल जाय, उसी मे सन्तुष्ट रहने से, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वो को सहन रूप—तितिक्षा से प्रभु मे प्रेम होता है।"

प्राचीन काल में यों ही अहरे-गहरे पचकल्यानियों को साधु लोग आज की भाँति अपना उत्तराधिकारी महन्त नहीं बना देते थे। साधुओं के आश्रमों के महन्तों का बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण पद था। साधुओं के आश्रम सफल छायादार वृक्ष के समान माने जाते थे। जैसे फल फूलों से लदा सघन छायादार स्वतन्त्र वृक्ष सभी के उपकार में सतत लगा रहता है। थके हुए बुभुक्षित कोई भी यात्री उसके आश्रय में पहुँच जायें। सफल वृक्ष सभी को विश्राम और भूख मिटाने को फल देता था। वह पात्र अपात्र का विचार नहीं करता। इसी प्रकार साधुओं के आश्रम प्राणि-मात्र को सुख पहुँचाने के विश्राम स्थान होते थे। कोई भी भूखा-प्यासा संतप्त दुखी व्यक्ति साधु के आश्रम में पहुँच जाय, उसे वहाँ आश्रय मिलता था। साधुओं का जीवन दूसरों के दुखों को दूर करने परकार्यों को साधने के लिये ही हुआ करता था। वे सबके दुख-सुख को अपने ही दुख-सुख के समान समझा करते थे। मैंने ऐसे अनेक साधुओं के आश्रम देखे हैं, जिनमें कोई भी, कैसा भी, किसी भी सम्प्रदाय का साधु पहुँच जाय, उसकी इच्छा हो, तब तक रहे। महन्त उसे कभी स्वयं आसन उठाने को नहीं कहते थे। अपनी इच्छा से जब चाहे चला जाय, जाते समय उसे कुछ न कुछ विदाई देते थे। भोजन के समय कोई भी अन्धा लूला लँगड़ा आ जाय, किसी को भी वे विमुख नहीं लौटाते थे। साधुओं के आश्रम व्यापारियों की दुकान न होकर व्यापारियों के घर के समान होते थे। घर में और दुकान में बड़ा अन्तर होता है। वैसे तो दोनों घर ही हैं, किन्तु व्यापारी के घर में हम जाते हैं, तो वह हमें फल मूल मिठाई आदि खिलाता है, जल पान कराता है। चाहे जितना व्यय कर दे, हमसे कुछ भी नहीं माँगता। उसी की दुकान पर जाओ तो एक पैसे की वस्तु

माँगो, उसे देकर आपसे एक पैसा माँग लेगा, संकोच नहीं करेगा। इसी प्रकार गृहस्थियों के घर दुकान के सदृश हैं, वहाँ जिसे खिलावेंगे कुछ आशा रखकर-किसी सम्बन्ध से खिलावेंगे। किन्तु साधु के आश्रम का द्वार सबके लिये खुला है। कोई भी भूखा पहुँच जाय उसे भोजन मिलेगा, कोई भी प्यासा पहुँच जाय उसे पानी मिलेगा। इसीलिये यह कहावत प्रचलित थी कि "*साधु का धन और वेश्या का यौवन सार्वजनिक वस्तु है*" उसका उपभोग करने के सभी अधिकारी हैं।

साधुओं के आश्रमों के महन्तों में यह आत्मभाव कैसे आता था? यों ही किसी को पहिले महन्त नहीं बना देते थे। पहिले जब कोई बालक साधु बनने आता था, तो उसे बारह वर्षों तक "लौंडा" बनकर रहना पडता था। बारह वर्ष तक वह साधुओं की चिलमें भरे उनकी गाली सहे, चिमटों की मार खाय। इसके अनन्तर बारह वर्ष उसे कोठारी या भडारी का काम करना पडता था। जिससे उसका आश्रम की वस्तुओं मे अपनापन न रहे आगत साधु अतिथियों को देता ही रहे, बाँटता ही रहे। चौबीस वर्ष के पश्चात् उसे एक लँगोटी एक कमडलु, देकर चारधामों की यात्रा में पैदल भेजते थे। बारह वर्षों में वह चारो धामों की यात्रा होती थी। वहाँ उसे सुख दुख, शीत-उष्ण, भूख-प्यास, मान अपमान आदि का पूरा अनुभव हो जाता था। तीर्थ यात्रा करके जब वह लौट आता तो गुरु लोग बारह वर्ष उससे नाना प्रकार की तपस्या कराते थे। मौन, खडेश्वर, पचाग्नि ताप, फलाहार आदि कठिन तप कराते थे। जब इन चारों कार्यों मे वह उत्तीर्ण हो जाता था। तब ४८ वर्षों के पश्चात्, उसे महन्ती दी जाती थी, सभी आश्रम के महन्त आकर उसे चद्दर चढाते थे। अर्थात् वे कहते थे अब तुम अपने नहीं रहे सर्वभूतहितेरत

हो गये। कोई भी महन्त साठ वर्ष की अवस्था से नीचा नहीं होता था। जिसने स्वयं कष्ट नहीं सहे वह दूसरों के कष्टों को अनुभव कैसे करेगा? जिसने स्वयं भूखों रहकर भूख के कष्ट का अनुभव नहीं किया, वह भूखों को देखकर द्रवित कैसे होगा? इसीलिये गुरुजन उसे ४८ वर्षों में सभी प्रकार का अनुभव करा दिया करते थे। निष्किंचन, निरीह बनकर जब तक पैदल-पैदल पृथ्वी पर पर्यटन न करें। सभी प्रकार के द्वन्द्वों को स्वयं सहन न करे, तब तक वह परोपकार व्रती–महन्त–कैसे हो सकता है।

साधुओं में ही यह बात रही हो, सो बात नहीं। पहिले राजाओं में भी यही बात थी। मैंने सुना इंगलैंड के राजकुमार (प्रिंस आफ वेल्स) को जहाजों में कोयला झोंकने का कार्य करना पड़ता था। जब हमारे देशी राज्य थे, तो उनके टिकैत युवराज को राज्य के आरक्ष्य (पुलिस) न्याय, शिक्षा, माल आदि विभागों के छोटे से लेकर बड़े पदों पर काम करना पड़ता था। जैसे पुलिस में पहिले उन्हें सिपाही बनकर काम करना पड़ता था फिर नायक, उपनिरीक्षक, निरीक्षक तथा आरक्ष्य के सबसे बड़े पद पर पहुँचना पड़ता था। अपने से ऊँचे पदाधिकारी की आज्ञा पालन करनी पड़ती थी। उनकी पदोन्नति १०–२० दिन में ही हो जाती थी, इसी प्रकार सेना में पहिले वे साधारण सैनिक से प्रविष्ट होकर सर्वोच्च सेनानायक के पद तक पहुँचते थे। ऐसे ही उन्हें सब विभागों में काम करना पड़ता था। तभी वे प्रजा का पुत्रवत् पालन कर सकते थे।

मैंने एक कथा सुनी थी, कि जब कौरव पांडवों को द्रोणाचार्य पढ़ा चुके तब भीष्म पितामह ने आचार्य से पूछा—"इनकी शिक्षा पूरी हो गयी?" आचार्य ने कहा—"अभी तनिक कसर है, मैं फिर बताऊँगा।"

एक दिन उन्होंने दुर्योधन और धर्मराज युधिष्ठिर को बुलाया-बिना बात उनमें ५-५ बेंत लगा दिये। दुर्योधन बड़ा दुखी हुआ, उसने भीष्म पितामह से जाकर कहा—"हमें आचार्य ने बिना अपराध के मारा है।"

भीष्मपितामह ने पूछा—"तुम्हें ही मारा है या और भी किसी को ?"

दुर्योधन ने कहा –"धर्मराज को भी मारा है।"

भीष्म ने कहा—"उसने तो आकर हमसे कहा नहीं।"

दुर्योधन ने कहा—"आप उन्हें बुलाकर पूछिये। धर्मराज बुलाये गये। उनसे पूछा गया, तो उन्होंने स्वीकार किया। पितामह ने कहा—"तुमने कोई अपराध किया होगा ?"

धर्मराज ने कहा—"अपनी जानकारी में तो हमने कोई अपराध किया नहीं।"

पितामह ने कहा—"जब तुम्हें निरपराध मारा गया,तो तुमने हमसे आकर कहा क्यों नहीं ?"

धर्मराज ने कहा—"हमको अपराध का ज्ञान नहीं है, किन्तु वे हमारे आचार्य हैं, हितैषी हैं, उन्होंने हमारे किसी न किसी हित के ही लिये मारा होगा, इस बात को हम आपसे क्यों कहते। यह तो अपराध होता। हमने इसका बुरा नहीं माना।"

यह उत्तर सुनकर पितामह प्रसन्न हुए। उन्होंने द्रोणाचाय को बुलाकर पूछा—"आचार्य ! आपने बच्चों को बिना अपराध के क्या मारा ?"

द्रोणाचार्य ने कहा—"राजन् ! इनकी शिक्षा पूर्ण करने को मैंने मारा। ये राजकुमार हैं, सुख में पले हैं, इन्हें आज तक किसी ने मारा नहीं। आगे चलकर ये राजा होंगे। इन्हे इस बात का अनुभव होना चाहिये, कि मार पड़ने पर कितना कष्ट होता

है। अतः इन्हें कष्ट का अनुभव कराने, इनकी शिक्षा को पूर्ण करने के निमित्त मैंने इन्हें मारा। जब तक प्राणी स्वयं कष्ट नहीं सहता, स्वयं भूखों नहीं मरता, तब तक वह दूसरों की भूख का, दूसरों के कष्ट का अनुभव कैसे कर सकेगा। पहिले लोग जो कुछ भी पास न रखकर पैदल-पैदल चारों धामों की यात्रा करते थे, इससे उन्हें सब प्रकार के अनुभव होते थे। हमने चारों धामों की तो पैदल यात्रा नहीं की। किन्तु एक बार काशी से ऋषीकेश तक गंगा किनारे-किनारे, दूसरी बार प्रयाग से बद्रीनाथ गंगा किनारे-किनारे, तीसरी बार अयोध्या से चित्रकूट ये तीन यात्रायें तो पैदल-पैदल कीं। और नैपाल के पशुपतिनाथ, मानसरोवर-कैलाश, मुक्तिनाथ, कश्मीर के अमरनाथ तथा गंगोत्री-यमुनोत्री आदि की भी पैदल यात्रायें कीं। इनमें बड़े-बड़े अनुभव हुए, नाना प्रकार के लोगों का संसर्ग हुआ। नाना प्रकार के दुख-सुख सहने पड़े।

हाँ तो मैं काशी से गंगा किनारे-किनारे उत्तराखण्ड की यात्रा का वर्णन कर रहा था। पकरौसिवार पागलानन्द स्वामी की कुटिया, लाक्षागृह आदि की यात्रा करते हुए हम भूसी तक आ गये, इसका वर्णन पिछले संस्मरण में कर चुके हैं। अब भूसी से आगे का वृत्तान्त सुनिये।

इसके पहिले मैं कभी भूसी नहीं आया था। हमारे इन्द्रजी कुछ दिन साधु वेष में योगानंद पाठशाला में रह चुके थे। उन्होंने ही बताया यहाँ एक परमानंद स्वामी प्रसिद्ध हैं, अतः सर्वप्रथम भूसी में हम उन्हीं के आश्रम में पहुँचे। स्वामी परमानंदजी वृद्ध महात्मा थे, उनके उत्तराधिकारी स्वामी नित्यानंदजी वृद्ध ही हो चले थे। अधेड़ समझिये। दोनों ही अच्छे महात्मा थे किन्तु दोनों ही भिंचे हाथ के थे। पैसा संग्रह करने का दोनों

का सहज स्वभाव था। पहिले सन्यासियों के आश्रमों का यह सदाचार था, कि जिन आश्रमों मे साधुओं के क्षेत्र होते थे, वहाँ के साधु दिन म तो क्षेत्र में भिक्षा करते। जिनमें क्षेत्र नहीं होते थे वे दिन में दूसरे क्षेत्रों से या गृहस्थियों के यहाँ से भिक्षा माँग लाते थे। रात्रि मे उनके यहाँ रोटियाँ बनती थीं। सबको चार-चार या यथेष्ट केवल रात्रि मे रोटियाँ दी जाती थीं। उन दिनों झूसी में लाला किशोरीलाल की धर्मशाला पर, स्वामी योगानद जी के यहाँ कोट पर और तिवारीजी के शिवालय पर क्षेत्र थे। झूसी साधुओं का गढ माना जाता था। सब सम्प्रदाय के मिलाकर २००।२५० साधु झूसी मे रहते थे। हम रात्रि में परमानद आश्रम में पहुँचे। तब तक वे रोटी खा चुके थे। लाला किशोरीलालजी का ऐसा क्षेत्र था कि उसमें जब भी कोई पहुँचे तभी उसे सामान मिलता था। यह चौबीसों घटे खुला रहता था। हमारे पहुँचते ही स्वामी नित्यानदजी ने कहा—"धर्मशाला पर चले जाओ, वहाँ सदावर्त बँटता है, वहीं बना खा लेना।" बीसों मील चलकर आये थे। थककर शरीर चकाचूर हो गया था। धर्मशाला वहाँ से एक मील थी। यद्यपि भूख के मारे आँतें कुलबुला रही थीं, किन्तु साधा सदावर्त लेने एक मील जायँ हमारा साहस न पड़ा।" हमने कहा—' स्वामीजी, हम तो वैसे ही पड रहेंगे।" उन्होंने एक कोठरी बता दी। उसमें टाट कमडलु डालकर पड रहे। जब उन्होंने देखा ये तो द्वार पर आ ही पडे, तो कुछ देर पश्चात् आये और बोले—"अच्छा, तो भाई कुछ बना ही लो।"

बनाने का भी किसी का साहस नहीं था, किन्तु भूख विवश कर रही थी, हमने कहा—"स्वामीजी! आप कहे तो खिचडी बना लेंगे।" यह सुनकर वे कुछ दाल, चावल, एक बटलोई

अँगीठी कोयला दे गये। लड़कों ने कोयला जलाकर खिचड़ी बना ली। हम सबमें इन्द्रजी बहुत चलते-पुरजे तेजतर्रार थे। माँगने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता था। कहना चाहिये हम सबको वे ही माँग-माँगकर खिलाते थे। गोविन्दजी भी उनके सहायक थे। पीछे दोनों में खटपट हो गयी तो पृथक्-पृथक् माँगने लगे। मुझे माँगने में बड़ी लज्जा लगती थी, अतः मैंने कभी माँगा नहीं। दूसरों की ही माँगी खाता रहा और अब भी दूसरों की माँगी भिक्षा पर ही निर्वाह करता हूँ। पहिले रोटी माँगते थे। अब फलाहारी होने से भिक्षा सदस्यों से एक रुपया दो रुपया मासिक भिक्षा मँगवाकर काम चलता है।

मैंने इन्द्रजी से कहा—"भैया, घृत के बिना भूत भोजन होता है, स्वामीजी से तनिक घृत माँग लाओ।"

उसे तो कोई संकोच था ही नहीं। गया, और बोला—"स्वामीजी, तनिक घृत दे दीजिये।" दोनों स्वामियों का पृथक्-पृथक् घृत रखा रहता था। स्वामी नित्यानंदजी ने कुरं-मुरं करते एक कटोरी में घी दिया। अब तो वृन्दावन बन गया। "खिचड़ी के चार यार। दही, पापड़, घी, अचार।" दही, पापड़ और अचार यार तो थे नहीं घी यार ने ही बानिक बना दिया। भूख में उस घृत पड़ी अमृतोपम खिचड़ी को खाकर सो गये।"

दूसरे दिन भी स्वामीजी ने हमें धर्मशाला से सीधा सदावर्त लाने को प्रेरित किया, किन्तु हम अड़ गये, नहीं गये। उन दिनों मैं उपनिषदों का पाठ करता था। कई उपनिषदें कंठस्थ थीं। अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने को मैंने स्वामी परमानंदजी से कुछ सत्संग किया। उसी प्रसङ्ग में १०।२० उपनिषदों के धड़ाधड़ मंत्र बोलता गया। तब तो स्वामीजी ने समझा ये कोई साक्षर हैं। स्वामीजी पुराने ढँग के वेदान्ती थे। व्याकरण का तो उन्होंने

अध्ययन नहीं किया था, किन्तु प्राचीन संन्यासियों की परिपाटी से उन्हें गीता की शंकरानंदी टीका, पंचदशी आदि ग्रन्थों का अभ्यास था। स्वामीजी ने फिर हमें सीधा दे दिया। हम चाहते थे भोजन करके यहाँ से निकलें। तभी मैंने पास में हंसतीर्थ के बाहर विशाल वट देखा। वह स्थान मुझे बहुत प्रिय मनोहर जँचा। तब किसे पता था, इसी वट के नीचे मैं बारह वर्ष रहूँगा और इसी झूसी के नाम से मैं झूसी वाले ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध हूँगा। उस समय तो जीवन भर हिमालय में निवास करने की धुनि थी। अतः बिना कुछ विचारे पेट-पूजा करके यहाँ से त्रिवेणी स्नान करने संगम के लिये चल पड़े।

संगम पर हम बैठे थे, उस समय संगम किले के नीचे ही था, वहाँ हमें सहसा बाबू लीलाधरजी मिल गये। पहिले वे खुरजा के अँगरेजी महाविद्यालय के अध्यापक थे। अब वे प्रयाग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक होकर आ गये थे। हमको इस वेष में देखकर वे बड़े विस्मित हुए। सब हाल-चाल पूछने के अनन्तर बोले—"चलिये, हमारे घर को पवित्र कीजिये। वहीं प्रसाद पाइये।"

'अधे तुझे क्या चाहिये ?" दो आँखें।' उन दिनों जिस दिन हमें भर पेट भोजन मिल जाय, मानों सब कुछ मिल गया। उन दिनों एकमात्र भोजन की ही चिंता हमें रहती थी। चढ़ती अवस्था थी, नित्य १५-२० मील चलते थे, नंगे रहते थे। नंगे रहने से, पैदल चलने से युवावस्था में भूख अत्यधिक लगती है। उस समय हम लोग कम से कम सेर-सेर भर आटे की रोटियाँ तो खा ही जाते थे। ये जो नौकरी करने वाले लोग होते हैं, इनके घर में अन्नादि का संग्रह नहीं रहता। नित्य दुकान से लाते हैं, बनवाकर खाते हैं। लीलाधरजी ने अपने आहार के अनुसार

तीन आदमियों के लिये तीन पाव या सेर भर आटा मँगाया होगा। उस सब को तो हम पहिले ही दौर में चट कर गये। बनाने वाली सिटिर पिटिर करने लगी। हमने कहा—"कोई चिन्ता नहीं हम बैठे हैं आटा और मँगा लें। हम बैठे रहे दुबारा आटा आया, मँड़ा रोटी बनी तब तक हमारा पहिला किया हुआ भोजन पच गया। दुबारा जो आया उसे भी सफा चट। फिर तिबारा मँगाया तब कहीं जाकर पेट भरा। लीलाधरजी इतिहास के विद्वान् थे वे अब संसार में नहीं रहे। उनके लिखे ग्रन्थ ख्यात अभी चलते हैं। यही दशा कानपुर में बाबू कन्हैयालाल जी गोयल के यहाँ हुई। उन दिनों वे आगरे से सनातन धर्म महाविद्यालय कानपुर में प्राध्यापक हो गये थे। पीछे प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रस्तोता (रजिष्ट्रार) हो गये। उन दिनों में वे पुराने कानपुर में एक घर लेकर अकेले ही रहते थे। बाल बच्चे बुलन्द शहर ही थे। हमें देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए भोजन को आमन्त्रित किया। हम तो इसके लिये उधार खाये ही बैठे रहते थे। स्वीकार कर लिया। रसौये ने भोजन बनाकर हमें बुलाया। चार-चार रोटियाँ देने के अनन्तर उसने पूछा—"और दें ?"

तब मैंने उसे डाँटते हुए कहा—"देखो, हमसे और मत पूछो। रोटियाँ हमारी थालियों में चुपचाप डालते चलो। जब हमें न लेना होगा, स्वयं मना कर देंगे। दो चार अधिक भी हो जायँ तो कोई चिन्ता की बात नहीं अच्छा ! अब देखो, पतली रोटी बनाने की आवश्यकता नहीं मोटी-मोटी रोटी बनाकर देते जाओ।"

वहाँ भी रसौया को तीन बार बाजार से आटा लाना पड़ा। गोयलजी ने कहा—"ब्रह्मचारीजी ! अब तो आहार बहुत बढ़ गया है ?"

मैंने कहा—"परिश्रम भी तो बहुत करते हैं, मनुष्य आहार नहीं करता। परिश्रम आहार करता है। भिक्षा माँगकर जहाँ भोजन करते थे, वहाँ तो संकोच की कोई बात ही नहीं थी, क्योंकि दश-बीस घरों से माँगकर लाना होता था। जहाँ किसी एक के घर भोजन करना होता वहाँ एक समय से अधिक नहीं ठहरते थे, क्योंकि अधिक खाने वाले अतिथि से घर की स्त्रियाँ ऊब जाती हैं। वे मन-ही-मन भगवान् से मनाती रहती हैं, यह इल्लत कब टल जाय, इसलिये हम भोजन करते ही चल देते थे। "पहाड़ी यार किसके ? भात खाया खिसके।" सो हम पहाड़ी तो नहीं थे, रोटी खाते ही खिसक जाते थे। हमें तो शीघ्र से शीघ्र हिमालय पहुँचने की चटपटी थी। तब तक गंगा किनारे का साधुओं का पावन पथ अवरुद्ध नहीं हुआ था। गंगाजी की धारा तो उत्तर से पूर्व एक ही ओर अविच्छिन्न बहती रहती थी। किन्तु साधुओं के गमन की धारा दोनों ओर दोनों तटों पर तब तक चालू थी। गंगातट के गाँव के लोग साधुओं की भिक्षा देना जानते थे। अब तो वह पुण्य पथ अवरुद्ध हो गया। अब भिखमंगों के अतिरिक्त कोई अच्छे साधु पैदल चलते ही नहीं। प्रथम श्रेणी के साधु वे कहाते हैं, जो अपनी निजी मोटर गाड़ी रखें। दूसरी श्रेणी के वे समझे जाते हैं जो भक्तों द्वारा लायी मोटरों पर यात्रा करते हैं। तीसरी श्रेणी के रेल से यात्रा करते हैं। चतुर्थ श्रेणी के वे जो पैदल चलते हैं, दाव लगा तो टिकट या बिना टिकट रेल पर भी चढ़ लेते हैं। उन दिनों जो साधु पैदल न चले, सवारियों के आश्रित रहे उसे राजसी साधु कहते थे। साधुओं में तथा सर्व साधारण समाज में वे हेय माने जाते थे।

हमसे साधुओं ने कह दिया था, कि प्रयाग के पश्चात् १०८

२० कोश तक गंगा किनारे मुसलमानों के ही ग्राम हैं, इन भिक्षार्थी को बहुत कष्ट होता है, किन्तु हमें तो उन ग्रामों में भिक्षा का कोई कष्ट नहीं हुआ। यही नहीं मुसलमान प्रधान ग्रा के हिन्दुओं में धार्मिकता अधिक होती थी।

प्रयाग के द्रौपदी घाट से चलकर हम नीमा ग्राम में पहुँचे फिर किनारे-किनारे शृङ्गवेरपुर वहाँ से कड़ामानिकपुर की देवी के दर्शन कर सहजादपुर होकर कानपुर पहुँचे। वहाँ से नानामउ च्यवनाश्रम आदि स्थानों में होते हुए गंगाजी के किनारे तरी गाँ में आये वहाँ स्वामी ब्रह्मानंदजी के दर्शन हुए। वे बड़े प्रसिद्ध पुरा महात्मा थे। गगा किनारे हनुमानजी का मन्दिर बनवाकर एव साधारण सा आश्रम बनाकर रहते थे। उस समय मिथ्या वाह्य वैराग्य का भूत मेरे सिर पर सवार था। जिस किसी महात्मा को कुटिया में गद्दा तकिया पर बैठा देखता, किसी पर औषधि या अन्य वस्तु का संग्रह देखता उसी पर टूट पड़ता। वैराग्य के नाना श्लोक बोलता, उन्हें भली बुरी सुनाता। अपने को परम वैराग्यवान् त्यागी तितिक्षु-प्रकारान्त से-द्राविणी प्राणायाम से-सिद्ध करता। वे महात्मा एक साधारण से तख्त पर साधारण-सा गद्दा तकिया लगाकर पड़े थे। उस समय ६०-७० से ऊपर उनकी अवस्था होगी। अन्त में वे विठूर में आकर रहने लगे थे। लगभग सवा सौ वर्ष की अवस्था में उन्होंने विठूर में अपने शरीर का त्याग किया था। विठूर में भी जाकर पीछे मैंने उनके दर्शन किये थे। तब तक उनकी दृष्टि प्रायः चली गयी थी।

जब मैं उनके सामने त्याग वैराग्य की बहुत बढ़ बढ़कर बातें बकने लगा, तब वे हँसे और बोले—"भैया! तैंने कितने दिनों से यह लँगोटा लगायी है?"

मेरे कुछ महीने बताने पर उन्होंने कहा—"मैं बारह वर्षो तक दिगम्बर बनकर गगा किनारे-किनारे विचरा हूँ। भगवान् तुम्हारी रक्षा करें देखें, कै दिन तुम्हारा यह वैराग्य टिकता है? उनकी बात सुनकर मुझे हँसी आई। क्या मेरा भी कभी वैराग्य समाप्त होगा? क्या मैं भी कभी हिमालय से लौटकर यहाँ आऊँगा? क्या मैं भी कभी गद्दी तकिया लगाकर पक्के भवनों में रहूँगा? क्या मैं भी कभी भाँति-भाँति के पदार्थों से अपना आहार पूर्ण करूँगा? यह असम्भव है, ऐसा नहीं होने का।

उन महापुरुष की वाणी सत्य हुई। असम्भव बात सम्भव हो गई। मैं हिमालय से लौटकर तीर्थ में ही नहीं तीर्थराज में आ गया? वैराग्य कर्पूर की भाँति उड़ गया। मेरे गद्दे तकियों के सामने उनके साधारण मैले गद्दे तकिये नगण्य थे। जिस भवन में मैं रहता हूँ उसके सम्मुख उनकी साधारण सी कुटिया कुछ भी नहीं थी। आज कल के मेरे रहन-सहन, ठाठ-बाठ, आहारादि को कोई देखे और उस समय के कोई देखे तो आकाश पाताल का अन्तर पावेगा। समय की बलिहारी है। प्रारब्ध का खेल है, पूर्व संस्कारों का परिणाम है। माया है, लीला है, जन्मान्तरों के भोग हैं। यह प्राणी स्वकर्म सूत्रों में आवद्ध है।

फिर हम वरुआ घाट आये। यह सन्यासियों का स्थान था। गगा किनारे बहुत से विरक्त महात्मा यहाँ रहते थे। इन दिनों स्वामी ज्ञानाश्रमजी की यहाँ बड़ी प्रसिद्धि थी, वे बड़े त्यागी तितिक्षु विरक्त महात्मा थे। हमारे पू० श्री उड़िया बाबा यहाँ बहुत दिनों तक रहे थे, स्वामीजी में गुरुभाव मानते थे। तब तक मैंने श्री उड़ियाबाबाजी के दर्शन नहीं किये थे, केवल नाम ही सुना था।

वहाँ से हम बरगदिया घाट आये। वहाँ एक बड़े हृष्ट पुष्ट मोटे तगड़े महात्मा मिले, कई भैंस रखते थे। जाति के जाट थे। सुनते थे वे, तीस वर्षों तक बरगद के नीचे एक गुफा में ही रहे आये, स्वभाव उनका कुछ उग्र था। मेरे सिर के ऊपर तो वैराग्य का भूत चढ़ा ही हुआ था, मेरी उनसे कुछ कहा सुनी हो गयी। बात बहुत बढ़ गयी। हम वहाँ से भिक्षा किये बिना ही चल दिये। उससे आगे आकिन घाट है वहाँ भी साधु महात्मा रहते थे।

इससे आगे शृङ्गीरामपुर है। यहाँ शृङ्गी ऋषि का एक मंदिर है, मेला लगता है, शृङ्गी ऋषि की तपस्थली है। यहाँ एक कूबाबा की कुटिया थी। कोई कू बाबा हो गये होंगे। उनका शरीरान्त हो चुका था। वहाँ एक महात्मा मिले वे कुत्ते रखते थे। कुत्तों के साथ खाते थे। एक कुटी मैली पड़ी थी हमने उसे झाड़ा बुहारा, गोबर मिट्टी से लीपकर भिक्षा करके चल दिया।

हमें स्वच्छता अत्यन्त प्रिय है। हम जहाँ भी जाते पहिले उस स्थान को झाड़ते, बुहारते, गोबर मिलता तो लीपते, कूआ होता तो उसका कूड़ा कर्कट फटी दातौन झाड़कर फेंकते। हाथ मटियाने वालों के हाथ मटियाने से जो मिट्टी वर्षों की जमी रहती, उसे पानी डाल-डालकर धोते, स्वच्छ करते, तब नहाते। भिक्षा करके चल देते। गोविंदजी और इन्द्रजी इस बात से कुढ़ते थे। घन्टे भर बैठना है, उसके लिये तीन चार घन्टे परिश्रम क्यों करें? किन्तु मुझे मैले कुचैले स्थानों में बैठना-नहाना रुचिकर ही नहीं, इसलिये स्थान को स्वच्छ करके ही हम नहाते खाते थे। यहाँ तक तो जहाँ तक मुझे स्मरण है कानपुर ही जिला था। हम बक्सर से आचार्य महावीर प्रसादजी द्विवेदी के गाँव

दौलतपुर में भी गये। उस दिन ऋषि पञ्चमी या वामन द्वादशी थी। द्विवेदीजी हमें देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए बोले—"बड़े भाग्य हैं तीन ऋषि आ गये। बड़ी श्रद्धा भक्ति से उन्होंने हमें भोजन कराया। वे सरस्वती सम्पादन से निवृत्त होकर अपने गाँव में ही निवास कर रह थे। उनकी धर्म पत्नी का देहावसान हो चुका था। उसकी प्रतिमा उन्होंने एक मन्दिर बनवाकर उसमें स्थापित कर रखी थी। उसमें वे सदा ताला बन्द रखते। मैंने पूछा— 'पंडितजी! आप सदा इसमें ताला क्यों बंद रखते हैं ?"

वे बोले—"महाराज! लोग कहेंगे, कि अपनी बहू को पुजवाता है, इसलिये मैं किसी को यहाँ आने नहीं देता।"

खल द्वेषी लोग सर्वत्र ही रहते हैं। वहाँ भी कुछ उनके आलोचक द्वेषी थे। अपने एक भानजे को उन्होंने रख रखा था। उनके भानजे की बहू ही उनका सब काम करती थी, दृष्टि मन्द हो जाने के कारण वही उन्हे पुस्तकें पढ़ पढ़कर सुनाती थी। इतने विद्वान् होने पर भी वे अत्यन्त सरल तथा सरस थे। ऐसे विद्वान् अब इस युग मे दुर्लभ हैं। अब यह याद नहीं रहा कि बक्सर शृङ्गीरामपुर से कितना पीछे है। स्यात् वह रायबरेली जिले में है।

शृङ्गीरामपुर से हम फर्रुखाबाद डलमऊ कचला घाट होते हुए सोरों पहुँचे। इसी को सूकर क्षेत्र कहते हैं। मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को सोरों का बड़ा भारी मेला लगता है। राजस्थान तक के लोग गंगा स्नान करने को यहाँ सोरों में आते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी अपने गुरु नरहरिदासजी के पास यहीं रहते थे। यहीं पर अचेतावस्था-बहुत छोटी बाल्यावस्था-में उन्होंने अपने गुरुजी से रामकथा श्रवण की थी। कुछ विद्वानों

का मत है गोस्वामीजी की जन्मभूमि सूकर क्षेत्र (सोरों) में ही थी। यह बड़ा सुप्रसिद्ध पुण्य तीर्थ है। यहाँ दशनामी संन्यासियों का बड़ा अखाड़ा है। हम जब गये थे तब यहाँ संस्कृत की एक अच्छी पाठशाला थी, एक बड़े भारी विद्वान् संन्यासी पढ़ाते थे। स्यात् 'वन' थे। वहाँ से भिक्षा करके हम चल दिये और फिर किनारे-किनारे चलकर रामघाट आये। यह स्थान बुलन्दशहर जिले में है। प्रत्येक पूर्णिमा को यहाँ गङ्गा स्नान का मेला लगता है। एक बनखंडेश्वर महादेवजी का मन्दिर है। उसके पास में ही एक इमली के पेड़ के नीचे छोटी-सी कच्ची कुटी थी। उसी में श्री उड़िया बाबा रहते थे। वे उड़ीसा प्रान्त के थे। इसीलिये सब उन्हें उड़ियाबाबा उड़िया बाबा इसी नाम से पुकारते थे। उन दिनों उनकी बहुत ही ऊँची त्याग वृत्ति थी। दोपहर में एक समय आसपास के गाँवों में जाकर मधूकरी माँग लाते थे और फिर अपनी कुटिया मे ही बन्द रहते मौनव्रत धारण किये रहते। केवल भिक्षा के ही लिये बाहर निकलते थे। मेरा राजनैतिक क्षेत्र बुलन्दशहर जिला ही था, इसलिये वे मेरा नाम तो जानते थे। मैंने भी उनकी प्रशंसा पहिले ही सुन रखी थी, किन्तु दर्शनों का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ था। वे भी कुछ ही वर्ष पूर्व इसी प्रकार परम विरक्तावस्था में काशीजी से गंगा किनारे-किनारे घूमते-घूमते बीच-बीच में वर्ष दो-दो वर्ष अन्य स्थानों में रहते हुए आये थे। यह स्थान शान्त एकान्त लगा, अतः वे यहाँ आकर रहने लगे।

गढ़ीरामपुर के पास एक बड़े भारी बरगद के वृक्ष के नीचे पं० मोतीरामजी ब्रह्मचारी की पाठशाला थी। वे प्राचीन ढंग के त्यागी तपस्वी महात्मा थे। १०-२० विद्यार्थी आ जाते उन्हें पढ़ा देते थे। आकाश वृत्ति पर पाठशाला चलती थी। पास में

एक शिवजी का मन्दिर था, छोटी-सी कच्ची पाठशाला। किन्तु वह लिपी-पुती स्वच्छ रहती। वह वट वृक्ष मुझे बहुत ही अच्छा लगा। ब्रह्मचारीजी भी बड़े अतिथि प्रिय थे, जो भी अतिथि आ जाता उसे प्रेम से भिक्षा कराते। उन्होंने बताया था—"उड़िया बाबा हमारे यहाँ बहुत दिनों तक रहे हैं, वे यहाँ विद्यार्थियों को पढ़ाया भी करते थे और बहुत ही त्याग तितिक्षा पूर्ण स्थिति में रहते थे।"

वहाँ से चलकर बाबा शहबाजपुर मोहनपुर में कुछ वर्षों तक रहकर यहाँ रामघाट में एकान्त देखकर रहने लगे थे। पास में कोई छोटा-सा नगला था। वहाँ के एक बड़े सात्विक ब्राह्मण उनके भक्त थे। वे प्रातःकाल गंगा किनारे आकर नहा धोकर जप करते रहते और सायंकाल को घर जाते। घर के अच्छे खाते पीते थे। गंगा किनारे जो भी साधु महात्मा आते, उनकी भिक्षा का प्रबन्ध करते। हमें भी वे अपने घर ले गये और बहुत ही प्रेम से भिक्षा करायी।

पू० श्री उड़िया बाबा हमें देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। हमारी तितिक्षा और त्याग से वे अत्यन्त ही प्रभावित हुए। जैसे स्नेहवान् पिता अपने चिरकाल के बिछुड़े पुत्र से विह्वल होकर मिलता है, उसी प्रकार वे अत्यन्त ही स्नेह के साथ हमसे मिले। वे अपने पास भगवान् बुद्ध का एक चित्र रखे हुए थे। उसके नीचे एक श्लोक लिखा था—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसानि लयं प्रयान्तु।
अप्राप्यबोधं बहुजन्मदुर्लभं
नैवासनात् कायमिमं चलिष्यति॥

इसका भाव यह है कि भगवान् बुद्ध जब आत्मबोध सम्बन्ध में कुछ भी निश्चय नहीं कर सके, तब गयाजी में एक वटवृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये और उन्होंने निश्चय किया—इस आसन पर बैठे-बैठे चाहे मेरा शरीर सूख जाय, त्वचा, मांस और हड्डियाँ भले ही यहाँ की यहीं नष्ट हो जायँ, किन्तु मैं उस बुद्धत्व को जिसे प्राप्त करना बहुत-से जन्मों में भी दुर्लभ है–उसे प्राप्त किये बिना इस स्थान से उठूँगा नहीं। मेरा यह शरीर यहाँ से बुद्धत्व प्राप्त किये बिना चलायमान नहीं होगा।

चित्र को दिखा-दिखाकर वे संकेत द्वारा हमारे त्याग वैराग्य की पुष्टि करने लगे। हमें हिमालय में जाकर तप करने को उत्साहित करने लगे। उनके ममतापूर्ण व्यवहार का अपार स्नेह और ममत्व का हमारे हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके समीप जब तक रहे हमें अत्यन्त ही सुख प्राप्त हुआ और तपस्या करने के हमारे उत्साह में वृद्धि हुई।

श्री उड़िया बाबाजी से आज्ञा लेकर फिर हम आगे के लिये चल दिये। रामघाट से आगे विहारघाट है, राजघाट नरौरा है, नरवर पाठशाला है, कर्णवास, भैरिया है, फिर अनूपशहर इसके पश्चात् अवन्ती देवी है। उस पर श्री हरिबाबाजी का बाँध है, अवन्ती देवी से आगे रूखी भगवान्पुर का घाट है, फिर पेटपालजी की कुटी है। ये गङ्गा किनारे के स्थान बहुत ही सुन्दर हैं। इनमें पहिले सैकड़ों विरक्त त्यागी महात्मा रहते थे। मेरा भी बहुत समय इन स्थानों में व्यतीत हुआ है। इन स्थानों में मेरे जीवन के त्याग वैराग्यमय बहुत दिन व्यतीत हुए हैं, अतः इन स्थानों का वर्णन करने का अगले संस्मरण में विचार है।

छप्पय

जा जीवन वैराग्य नहीं वह नीच महा है।
जा जीवन में त्याग नहीं वह जीवन का है॥
बिना तितिक्षा त्याग जगत बंधन नहिं टूटें।
बिना ज्ञान अज्ञान जनित तप द्वार न खूटें॥
छिन भरिकूँ हू जगततें, है जावे वैराग्य यदि।
तब सब जग फीको लगै, त्याग एक औषधि समदि॥

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
झूसी (प्रयाग)
पौष कृ० अमावस्या २०२९ वि०

विनीत
प्रभुदत्त

ब्रह्म, अमृत, अथर्वशिर और अथर्व-शिखोपनिषद् सार

(२८७)

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञान यज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वानितरे केशधारिणः ॥*

(ब्रह्मोपनिषद्)

छप्पय

ब्रह्म उपनिषद् कही अङ्गिरस मुनि शौनकतैं ।
कह्यो आतमा प्राण जीव यह बँध्यो प्राणतैं ॥
कंठ, मूर्ध, हिय, नाभि आतमा चार थान में ।
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तुरीयहु इनि चारिनि में ॥
ब्रह्मा, विष्णु महेश अरु, परमाक्षर पर-ब्रह्म है ।
बन्यो ब्रह्म एकहि सकल, जग दूसर नहिँ ब्रह्म है ॥

---

* जिनकी ज्ञान की ही तो शिखा है, ज्ञान मे ही निष्ठा है और ज्ञान का ही यज्ञोपवीत धारण करते हैं उनके लिये ज्ञान ही सब कुछ है, ज्ञान को ही परमपवित्र कहा है । अग्नि की भाँति जिनकी शिखा है । अन्य बालों की शिखा नहीं । केवल ज्ञानमयी शिखा ही जो धारण करते हैं, वास्तव में वे ही विद्वान् शिखा धारण करने वाले शिखी हैं, शेष तो केवल बालों को रखाने वाले हैं ।

जगत् में सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं। नाना रूपों में ब्रह्म ही ब्रह्म भास रहा है। उस ब्रह्म को जो यथार्थ में जानता है वही ब्रह्मिष्ठ-ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है।

शौनकजी से सूतजी कह रहे हैं—"ब्रह्मन्! ब्रह्म उपनिषद् के तो आप मुख्य ज्ञाता ही हैं। आपने ही भगवान् अङ्गिरस पिप्पलाद से इस वरिष्ठा ब्रह्मविद्यामयी उपनिषद् को पूछा था। आपके यह पूछने पर कि परब्रह्म परमात्मा तो परमदिव्य ब्रह्मपुर में संप्रतिष्ठित हैं, वे फिर इस जगत् को कैसे रचते हैं? यह किसकी महिमा है और जिसकी यह जगत् महिमा है वह कौन है?"

इस पर पिप्पलाद मुनि ने कहा था—"प्राण ही यह आत्मा है, यह सब परमात्मा की ही महिमा है। देखो, जैसे रानी मधुमक्खी ही सब मक्खियों को उत्पन्न करती है, उसके बैठने पर सब मक्खियाँ बैठ जाती हैं, छत्ता लगा है, उसके उड़ जाने पर सभी उसका अनुगमन करती हैं इसी प्रकार वह प्राणरूप ब्रह्म ही सब देवताओं की आयु, निधन, अनिधन का विधान करते हैं। वे दिव्य ब्रह्मपुर में रहते हैं। वे विरज हैं, निष्कल हैं, परमशुभ्र हैं, अक्षर हैं। ये जो प्राण देवता हैं, वे शरीर की समस्त नाड़ियों में व्याप्त रहते हैं। जैसे पक्षी आकाश में उड़ता तो है, किन्तु उडकर अपने निवास स्थल कोटर में ही आकर सोता है। जैसे कुमार निष्काम हो आनन्द का खेल में अनुभव करता है, उसी प्रकार प्राण स्वप्न मे आनन्दानुभव करता है, स्वप्न में कोई लाठी से मारे भी तो शरीर मे चोट नहीं लगती। इसी प्रकार यति इष्टापूर्त और शुभ अशुभ में लिप्त नहीं होता। जैसे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों का साक्षी यह प्राणरूप ब्रह्म ही है।

इसके शरीर में रहने के मुख्य चार स्थान हैं नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा। यही चतुष्पाद ब्रह्म है, चार इसकी अवस्थाएँ

हैं। जाग्रत, स्वप्न सुपुप्ति, और तुरीय। जागरित अवस्था में यह ब्रह्मा है, स्वप्नावस्था में विष्णु है, सुपुप्ति में रुद्र है और तुरीय में परमाक्षर है। यह आत्मा ही आदित्य, विष्णु, विश्वेश्वर, पुरुष प्राण, जीव तथा अग्नि है। जाग्रत के मध्य में परब्रह्म भासित होता है। यह स्वयं मन, श्रोत्र, पाणि, पाद तथा ज्योति से रहित है उसके यहाँ लोक, वेद, देव, यज्ञ, माता, पिता, वर्ण, आश्रम, कुल तथा जाति कुछ भी नहीं। केवल एक तत्त्व परब्रह्म ही परब्रह्म है। वह हृदय को गुफा में रहता है। हृदय में ही प्राण, ज्योति, त्रिवृत यज्ञोपवीत है, वह आत्मा महान् है। यज्ञोपवीत के मन्त्र से शिखा सहित बालों को बनवाकर बाहर के यज्ञोपवीत का भी परित्याग करके संन्यासी हो जाय। अक्षर परब्रह्म जो सूत्र है उसे ही धारण करले। बाहर के सूत्र को त्यागकर जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड माला के सूत्र में जैसे मनका पुरोये हुए हैं उसी ब्रह्मसूत्र को धारण करले। ज्ञान की ज्योति ही शिखा और सूत्र है। जिसकी ज्ञानमय शिखा है, ज्ञानमय सूत्र है वही ब्रह्मज्ञानी वास्तविक ब्राह्मण है। एक ब्रह्म ही ब्रह्म है। जैसे तिल में तेल, काष्ठ में अग्नि व्याप्त है वैसे ही सबमें ब्रह्म व्याप्त है। अग्निहोत्र, ध्यान, संध्या-वन्दन सब ब्रह्म ही है। अतः ब्रह्म का ही ध्यान करना चाहिये, यही ब्रह्मविद्या ब्रह्मोपनिषद् है।

सूतजी कह रहे हैं—"यह उपनिषद् संन्यासपरक त्याग-परक है। सब कुछ त्यागकर एकमात्र ब्रह्म का ही आश्रय ग्रहण करो, उसी की शरण में जाओ। यही इसका सार सिद्धान्त है। अब आप अमृतनाद उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुनिये। सहनाववतु इस उपनिषद् का शान्ति पाठ है। कहते हैं सब कुछ पढ़कर उसे त्याग दे। ब्रह्म विद्या को ग्रहण करे। ओंकार को तो रथ बनाले, विष्णु को सारथी बनाकर ब्रह्मलोक की खोज में जाय। रुद्र की

आराधना में तत्पर होकर। रथ से वहीं तक जाया जा सकता है, जहाँ तक रथ के जाने का मार्ग हो। फिर रथ को छोड़कर पैदल ही जाय। इसी प्रकार ओंकार के मात्रा, लिङ्ग, पद, शब्द, व्यञ्जन, स्वर आदि सबको त्यागकर सूक्ष्म जो तत्त्व है उसमें प्रवेश करे। षडङ्गयोग का अभ्यास करे। षडङ्गयोग क्या है? (१) प्रत्याहार, (२) ध्यान, (३) प्राणायाम, (४) धारणा, (५) तर्क और (६) समाधि। इस योग का शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और चंचल मन अपने आत्मा की रस्सी से इन्हें रोकना ही प्रत्याहार है। तब षडङ्गयोग का अभ्यास करे। जैसे धातुओं के मल अग्नि में धोंकनी से धोंकने पर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम से इन्द्रियकृत दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिये प्राणायाम से दोषों को, धारणा से पापों को, प्रत्याहार से संसर्ग दोषों को और ध्यान से अनीश्वर गुणों को नष्ट कर दे। जब सब किल्विष-पाप नष्ट हो जायँ तब रुचिर से चिन्तन करे।

रुचिर में पहिले वायु को रेचन करके फिर वायु को खींचे (पूरक करे) फिर कुम्भक करे। इस प्रकार रेचक, पूरक और कुंभक प्राणायाम के तीन प्रकार हैं। व्याहृति, प्रणव और सिर सहित गायत्री को तीन बार पढ़ने पर प्राणायाम होता है। रेचक किसे कहते हैं? वायु को वेग से आकाश में निकाल दे। भीतर से पूरी वायु को निकालकर निरात्मक शून्य कर दे। यही रेचक के लक्षण हैं। पूरक किसे कहते हैं? स्वास प्रस्वास लेना बन्द कर दे, गात्र को हिलावे-डुलावे नहीं, धीरे-धीरे बाहर की वायु को खींचकर भीतर भर ले यह पूरक के लक्षण हैं। अब कुंभक किसे कहते हैं? भरी हुई वायु को मुख बन्द करके भीतर ही-भीतर रोके रखे। इस पर वायु को निराश्रय करके

वायु को रोके रहने को कुंभक कहते हैं। प्राणायाम करके शान्त हो जाय। शान्त होने के क्या लक्षण हैं ?

जितने बाह्यरूप हैं उनकी ओर से अन्धा हो जाय, जितने बाहरी शब्द हैं, उनकी ओर से बहरा हो जाय, सम्पूर्ण शरीर को काष्ठ की भाँति सुस्थिर रखने को प्रशान्त कहते हैं। धारणा किसे कहते हैं ? मन को संकल्प पूर्वक ध्यान करके उसे आत्मा में ही लगा दे (बाह्य विषयों की ओर न जाने दे) मन को आत्मा में ही धारण करने को धारणा कहते हैं। अब तर्क का क्या लक्षण है ? शास्त्र सम्मत ऊहापोह करने को-अर्थात् शास्त्र के अविरुद्ध विचार विमर्श करने को तर्क कहते हैं। समाधि का क्या लक्षण है ? जिस स्थिति में चित्त शान्त तैल धारावत हो जाय, तर्क वितर्क कुछ भी न उठे उसी का नाम समाधि है। यह समाधि अभ्यास के द्वारा प्राप्त होती है। अब प्रश्न उठता है, अभ्यास कैसे करे ?"

अब अभ्यास की विधि बताते हैं। सभी दोषों से वर्जित पवित्र सम भूमि पर आसन लगावे,मन को चारों ओर से हटाकर मनोमयी रक्षा करे। फिर पद्मासन, स्वस्तिकासन तथा भद्रासन जो भी आसन अपने अनुकूल पड़े उस आसन को लगाकर, उत्तराभिमुख होकर प्राणायाम का अभ्यास करे। दो उँगलियों (मध्यमा और अनामिका) से एक नासिका पुट को बन्द करके दूसरे नासिका छिद्र से शनैः शनैः वायु को खींचे। उस समय केवल भीतर के शब्द नाद-ब्रह्म ओंकार का ही चिन्तन करे। अक्षर ब्रह्म ओंकार से ही वायु को भरे, फिर उसे रोककर ओंकार द्वारा ही उसे शनैः शनैः रेचन करे। इस प्रकार दिव्य जो ओंकार मन्त्र है। इससे बार बार पूरक, कुंभक और रेचक करके अपने भीतर के दोषों को निकाल कर निर्मल बना ले। फिर उस मन्त्र को

स्थूल अति स्थूल मात्रा में ध्यान करे। दृष्टि को स्थिर रखे, दायें-बायें ऊपर नीचे न जाने दे। सर्वथा सीधा स्थिर स्थायी बैठकर तब योग का अभ्यास करे। ताला, मात्रा, योग, धारणा तथा योजन इस प्रकार काल से, नियत से द्वादशमात्र योग है। इस प्रकार अमृतनाद का अभ्यास करे। अमृतनाद क्या है। उसमें घोस, व्यञ्जन तथा स्वर नहीं हैं। वह कण्ठ से, तालु से, ओष्ठ से तथा नासिका से उच्चारण नहीं किया जा सकता है। वह रेफ जात नहीं है, उसका उच्चारण दोनों ओष्ठों से नहीं हो सकता। वह अक्षर है उसका कभी क्षर-नाश नहीं होता। प्राणायाम के द्वारा मन जब इस अमृतनाद को खोज लेता है, अनुभव कर लेता है तो फिर प्राण उसी मार्ग का अनुसरण करता है। अर्थात् प्राण उस अमृतनाद में मिल जाता है। मन, नाद और प्राण तीनों एक हो जाते हैं। यही सन्मार्ग है। इस सन्मार्ग में गमन करने के निमित्त नित्य नियम से अभ्यास करना चाहिये। उसे हृदयद्वार, वायुद्वार, ऊपर का द्वार, मोक्षद्वार, तथा सुषिर बिल मण्डल कहा है।

योग के साधक को चाहिये कि अभ्यास करते समय भय, क्रोध, आलस्य, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, अधिक भोजन तथा उपवास इन सबका परित्याग कर दे। इस प्रकार जो नित्य नियम से श्रद्धा पूर्वक अभ्यास करेगा उसे अमृतनाद के श्रवण से तीन महीने में स्वय ही ज्ञान उत्पन्न हो जायगा इसमें कोई संशय नहीं। चौथे महीने में उसे देवताओं के दर्शन होने लगेंगे। फिर पाँचवे महीने में देवताओं के तुल्य विक्रम हो जायगा। छटे महीने में इच्छानुसार कैवल्यपद प्राप्त हो जायगा।

देखो, पार्थिव भाग पच मात्रा है, जल भाग चार मात्रा है, अग्नि भाग तीन मात्रा है, वायु भाग द्विमात्रा है और आकाश एक

मात्रा है। अर्थात् आकाश में एक ही शब्द गुण है, वायु में शब्द और स्पर्श दो हैं, तेज में शब्द, स्पर्श, रूप तीन गुण हैं, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण हैं और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच गुण हैं। इन पाँचों से परे जो अर्ध मात्रा है–ओंकार है–उसी का चिंतन करना चाहिये। मन के द्वारा सिद्धि करके अपनी आत्मा से ही उस आत्मा का चिंतन करना चाहिये।

प्राण जहाँ प्रतिष्ठित हैं वह तीस अंगुल प्रमाण वाला है। अर्थात् नासिका से तीस अंगुल बाहर तक चला जाय, नासिका से हृदय भी तीस ही अंगुल है। भीतर की वायु को प्राण कहते हैं, बाहर की वायु तो दीखती ही है। एक लाख तेरह सहस्र छै सौ अस्सी निःश्वास दिन रात्रि में जाती हैं। प्राण पाँच प्रकार का होकर शरीर में रहता है। (१) पहिला प्राण तो हृदय में रहता है। (२) अपान गुदा में, (३) समान नाभि में, (४) उदान कण्ठ में और (५) व्यान समस्त शरीर में व्याप्त रहता है। इन पाँचों प्राणों के पाँच वर्ण यथाक्रम से कहे गये हैं। मणि के सदृश लाल वर्ण वाला प्राण है, अपान इतने लाल वर्ण का जैसे इन्द्रगोप वीरबहूटी समल गुड़िया लाल जीव जो वर्षात् में होता है–उसके बीच में जो समान है वह गोदुग्ध के सदृश सफेद वर्ण का होता है। उदान अपाण्डुर (कुछ पीत) वर्ण का और व्यान दीप की अर्चि के सदृश। इन पाँचों के मंडल को भेदन करके जब वायु मूर्धा में जाती है। और मरते समय मूर्धा के दशम द्वार को फोड़कर प्राण निकलते हैं तो जहाँ भी पुरुष मरता है फिर उसका जन्म नहीं होता है यही इस अमृतनाद ब्रह्म उपनिषद् का सार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह योग की उपनिषद् है। इसमें प्राण को ही ब्रह्म मानकर प्राणायाम के अभ्यास से ही

षट कमलों को भेदकर प्राण को सहस्रार कमल में पहुँचाने का वर्णन है। इसका यथार्थ मर्म तो योगीजन ही जान सकते हैं। मैंने तो अक्षरों का सार अर्थ मात्र बता दिया है अब आप अथर्वशिर उपनिषद् का सार सिद्धान्त श्रवण करें।

अथर्वशिर उपनिषद् अथर्ववेद की उपनिषद् है इसमें भगवान् रुद्र की महिमा गायी गयी है। एक बार समस्त देवताओं ने स्वर्ग मे रुद्र से पूछा-"आप कौन हैं?" इस पर भगवान रुद्र ने इस अद्वैतपरक उपनिषद् को कहा है। यह गद्यपद्यात्मक उपनिषद् ७ भागों में विभक्त है। पहिले भाग में रुद्र भगवान् ने बताया मैं ही सबसे प्रथम हूँ, मुझसे व्यतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं। मैं ही सर्वत्र हूँ, दिशा, उपदिशा, स्त्री, पुरुष, समस्त छन्द, तीनो अग्नियाँ, चार वेद और जो भी कुछ है सब मैं ही मैं हूँ। जो मुझे भली-भाँति जानता है, देवताओं को भलीभाँति जानता है। मैं ही ब्रह्म द्वारा ब्राह्मण को, गौ द्वारा गौ को, ब्राह्मण द्वारा ब्रह्मण्य को, हविः द्वारा हविष को, आयु द्वारा आयु को, सत्य द्वारा सत्य को, धर्म द्वारा धर्म को अपने तेज से तृप्त करता हूँ। यहाँ पर प्रथम भाग समाप्त हुआ। अब द्वितीय भाग में देवताओं ने ३२ मन्त्रों में रुद्र भगवान् की स्तुति की है। तीसरे में रुद्र भगवान् को ही प्रणव, ओंकार, तारक, शुक्ल, सूक्ष्म, वैद्युत, परब्रह्म, रुद्र, ईशान तथा महेश्वर बताया है। फिर ओंकार, प्रणव, सर्वव्यापी, अनन्त, तार, शुक्ल, सूक्ष्म, वैद्युत, परब्रह्म एक, रुद्र, ईशान, भगवान् महेश्वर, इन शब्दों की शास्त्रीय विधि से व्याख्या करके इनका अर्थ बताया गया है। यहाँ तृतीय भाग समाप्त हुआ।

अब चौथे भाग मे रुद्रदेव की महिमा का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है, हृदय की गुफा में उन आत्मदेव का ध्यान

करने को कहा है, जो लोग उन हृदयस्थ देव को अपने हृदय में देखते हैं वे धीर पुरुष ही शान्ति प्राप्त करते हैं। दूसरे शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते। फिर भस्म की महिमा बतायी है, भगवान् रुद्र की स्तुति है।

फिर यह सम्पूर्ण जगत् रुद्र से कैसे उत्पन्न हुआ इसका क्रम बताया है। रुद्रदेव अ-क्षर स्वरूप हैं। उन अक्षर भगवान् से काल उत्पन्न हुआ। काल से व्यापक हुआ। वे सर्वव्यापक रुद्र ही भगवान् हैं। जब वे सो जाते हैं, तब समस्त प्रजा का संहार हो जाता है। जब वे श्वास लेते हैं तब उसे तम उत्पन्न होता है। तम से जल, उस जल को वे उँगली से मथते हैं उससे मथित होता है। फिर उससे शिशिर होता है। जब उस शिशिर को भी मथते हैं तब उससे फेन होता है। फेन से अण्ड, उस ब्रह्मरूप अण्ड से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा से वायु, वायु से ओंकार, ओंकार से सावित्री, सावित्री से गायत्री और गायत्री से ही ये सब लोक उत्पन्न होते हैं। तप और सत्य की अर्चना करते हैं,मधु क्षरित होता है। यही परमतप है। आप ज्योति, अमृत, ब्रह्म, भूर्भुवः स्व ओं नमः। यही सृष्टि का क्रम है। यह सब रुद्र से ही होता है। यहाँ छटा भाग समाप्त होता है।

अब सातवें भाग में इस उपनिषद् के अध्ययन की फल श्रुति बताकर इस उपनिषद् को समाप्त किया गया है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो। यह मैंने बहुत ही संक्षेप में अथर्वशिर उपनिषद् का सार सुना दिया। भद्रं कर्णेभिः इस उपनिषद् का आदि शान्ति पाठ है, अन्तिम शान्ति पाठ सहनाववतु है। अब आप अथर्वशिखा उपनिषद् का सार श्रवण करें। यह गद्यात्मक उपनिषद् है। इसके गद्यात्मक दो मन्त्र दो भागों में विभक्त हैं। अङ्गिरापिप्पलाद मुनि ने अथर्ववेदीय

भगवान् सनत्कुमार से पूछा—"भगवन्! ध्यान, ध्येय और ध्याता कौन हैं? इनकी व्याख्या करें।"

इस पर भगवान् सनत्कुमार ने कहा—"ओंकार प्रणव ही ध्यान करने योग्य है। इस ओंकार के चार पाद हैं। चार देवता हैं, चारों वेद ही इसके चतुष्पाद हैं। यही अक्षर है, इसी को परंब्रह्म भी कहते हैं। पहिला इसका पाद अकार है, पृथ्वी मात्रा है। वेद ऋगवेद है। ब्रह्मा और वसुगण देवता हैं, गायत्री छन्द है और गार्हपत्य अग्नि है।

दूसरा पाद उकार है। अन्तरिक्ष लोक है, वेद यजुर्वेद है, रुद्रगण इसके देवता हैं, त्रिष्टुप् छन्द है और अग्नि दक्षिणाग्नि है।

तीसरापाद मकार द्यौ (स्वर्ग) लोक है। वेद सामवेद है, विष्णु आदित्य देवता हैं, जगती छन्द है। आहवनीय अग्नि है।

चौथापाद जो अर्धमात्रा है वह लुप्तमकार है। अथर्वमन्त्रों वाला अथर्व इसका वेद है। संवर्तक नाम वाली अग्नि है। मरुत देवता हैं। एक अरूपी, रुचिरा, भास्वती और स्वभा ये शक्तियाँ हैं।

पहिली शक्ति रक्तवर्णा है। ब्रह्माजी इसके देवता हैं। दूसरी शुभा शुक्लवर्ण की है, वह रौद्री है, रुद्र इसके देवता हैं। तीसरी कृष्णावर्णा है, वह विष्णुमती है, विष्णु इसके देवता हैं। चौथी विद्युन्मती है, यह सर्व वर्ण वाली है। पुरुष इसके देवता हैं। यही चतुष्पाद ओंकार हैं, यह चतुः शिरा चतुर्थ अर्धमात्रा वाला है। यह स्थूल, ह्रस्व, दीर्घ और लुप्त वाला है। ॐ, ॐ, ॐ इस प्रकार तीन बार कहना चाहिये। चतुर्थ शान्तात्मा है लुप्त का प्रयोग नहीं। सम यह आत्मज्योति है। एक ही बार उसे सब भाव से उच्चारते रहना चाहिये ॐ। इसके इस प्रकार एक बार उच्चारण से सभी प्राणों का उच्चारण हो जायगा। यही ओंकार ऊपर की ओर उत्क्रमण करा देगा।

इस प्रकार इसमें ओंकार की महिमा बतायी गयी है। एकान्त शान्त निर्जन स्थान में बलपूर्वक समस्वर में देर तक ओंकार का उच्चारण करे।

दूसरे गद्य मन्त्र में भी प्रणव की महिमा है। इसे प्रणव क्यों कहते हैं? इसलिये कि यह सभी प्राणों को प्रणामता है, नवाता है। इसलिये यह प्रणव चतुर्धा होकर अवस्थित है। यह वेदों का देवों का निर्धय तथा संधर्ता है। सभी दुःखों से, सभी भयों से तारता है। तारने से यह विष्णु है, क्योंकि सभी पर विजय प्राप्त करता है। यह ब्रह्मा इसलिये है इसके सर्वकारण अबृहत् हैं। इन सबकी संप्रतिष्ठा करता है। ध्यान से विष्णु मन में। नादान्त में परमात्मा को स्थापित करके ध्येय जो ईशान रुद्र हैं जिनमें यह सब प्रयुक्त हो रहा है। उन भगवान् से ही ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि देवता उत्पन्न होते हैं। समस्त इन्द्रियाँ, सभी भूत, सभी अन्तःकरण की वृत्तियाँ, सभी ऐश्वर्य उत्पन्न होते हैं। ऐसे सम्पन्न, शिव, आकाश, मध्य में ध्रुवस्थ हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, शिव ये पाँचों देवता पाँच होकर प्रणव कहे जाते हैं। इस प्रणव में एक क्षण भी यदि ध्यानस्थ हो जाय, तो सौ यज्ञों के सदृश फल प्राप्त हो जाता है। एक बार भी यदि साधक ओंकारगत हो जाय तो समस्त फल प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये सम्पूर्ण ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण योगध्यान द्वारा एकमात्र शिव ही ध्येय हैं। वे ही शिव शंकर हैं। कल्याण करने वाले हैं।

इस प्रकार ध्याता तो साधक है, ध्यान विष्णु हैं और ध्येय शिवशंकर हैं। यही अथर्वशिख उपनिषद् है। यह ओंकार प्रधान जो उपनिषद् है उसी का और सबको छोड़कर अध्ययन करना चाहिये। जो द्विज इसका अध्ययन करता है, वह गर्भवास

से विमुक्त हो जाता है। गर्भवास से निश्चय ही विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार यह ॐ सत्यम् उपनिषद् है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यही अथर्वशिर उपनिषद् का सार सिद्धांत है। अब आगे आप मैत्राणी उपनिषद् सार सुनेंगे।"

छप्पय

(१)

ज्ञान कह्यो उपवीत ज्ञान ही शिखा बताई।
यज्ञ ज्ञान ही जानि ज्ञानतैं ब्रह्म दिखाई॥
ज्ञान बिना उपवीत सूत्र है बन्धन कारक।
ज्ञान बिना यह शिखा बालकी गुच्छा घातक॥
जहँ वाक मनके सहित, लौटे तिहि देखे बिना।
वही ब्रह्म आनन्द लखि, होइ कृतारथ ता दिना॥

(२)

पुनि अथर्वशिर कही देवतनि के प्रति शंकर।
सार रुद्रकूँ कह्यो सृष्टि थिति और लयकर॥
रुद्र, प्रणव, अरु शुक्ल, सूक्ष्म वैद्युत अनन्त पर।
रुद्र, एक, ईशान, परात्पर, ब्रह्म, महेश्वर॥
अक्षर, व्यापक, काल वे, तिनितें तम, जल मथत तिहि।
शिशिर, फेन पुनि अडतें, अज, ओंकारहु जग बनहि॥

(३)

पुनि अथर्वशिख कही अंगरहु, सनत्कुमारहु।
प्रणव प्रशंसा करी ध्येय, ध्याता अरु ध्यानहु॥
ब्राह्मी, रुद्री, विष्णु, पुरुष ये शक्ति चार हैं।
ह्रस्व, दीर्घ प्लुत थूल प्रणव के उच्चारन हैं॥
प्रणव प्राणकूँ नवत है, तारे सबकूँ तार है।
ध्यान विष्णु ध्याता पुरुष, ध्येय रुद्र ओंकार है।

इति ब्रह्म, अमृत, अथर्वशिर और अथर्वशिखोपनिषद् सार

मैत्रायण्युपनिषद्-सार

[२८८]

त्वं ब्रह्मा त्वं च विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ॥*
(मै० उ० ५ प्र० १ मं)

छप्पय

मैत्रायणि उपनिषद कही ऋषि शाकायनि ने ।
नृप बृहद्रथ करी तपस्या पाई तिनि ने ॥
नृपतें मुनिवर कहें-आतमा अमृत अभय है ।
तन जड़ प्राणहि ताहि करै चैतन्य सरिस है ॥
प्राण पंचधा देह में, रहें अभाव चक्रवत ।
तन अनित्य आत्मा अमल, सत्य समुझि लहि परमपद ॥

सहस्र बातों की एक ही बात है, यह शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य है । अनित्य के प्रति मोह ममता का परित्याग करके नित्य वस्तु का चिन्तन करो । नित्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करो । यही परम पुरुषार्थ है, इसी में नर देह का साफल्य है ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैत्रायणी उपनिषद् सात प्रपा-

---

* परम पुरुष परब्रह्म की स्तुति करते हुए कौत्सायनी कह रहे हैं—"तुम ही ब्रह्मा हो, तुम ही विष्णु हो, तुम ही रुद्र हो, तुम ही प्रजापति हो, तुम ही अग्नि, वरुण, वायु, इन्द्र तथा चन्द्रमा हो ।"

ठकों में विभक्त है। आप्यायन्तु इसका शान्तिपाठ है। प्रथम प्रपाठक में बताया है, कि इक्ष्वाकु कुल के बृहद्रथ राजा इस शरीर को अशाश्वत मानकर राज्य पर अपने ज्येष्ठ पुत्र को स्थापित करके संसार से वैराग्य धारण करके वन में चले गये और वहाँ जाकर ऊर्ध्ववाहु होकर घोर तप करने लगे। उनके घोर तप को देखकर शाकायन्य मुनि ने आकर उनसे वर माँगने को कहा। राजा ने कहा—"भगवन्! यह देह नाशवान् अनित्य है। बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा हुए, सब कुछ यहीं छोड़कर चले गये। इस संसार में सार क्या है, इस बात को मुझे बतावें। मैं संसार-सागर में डूब रहा हूँ आप ही मेरी एकमात्र गति हैं।"

दूसरे प्रपाठक में भगवान् शाकायन्य ने राजा को बताया—"राजन्! आप इक्ष्वाकु कुल में उस वंश की ध्वजा के समान हो। आप शीघ्र ही आत्मज्ञानी होकर कृतकृत्य हो जाओगे और मरुत नाम से विख्यात होगे।" फिर ऋषि ने आत्मा का अमृत अभय रूप बताया। राजा के यह पूछने पर कि शरीर तो जड़ है, अचैतन्य है, यह चैतन्यवत् व्यवहार कैसे करता है?

इस पर ऋषि ने कहा—"यह प्राणों के कारण चैतन्यवत् व्यवहार करता है। इस शरीर में प्राण पंचधा होकर निवास करता है, उसी के कारण शरीर द्वारा समस्त क्रियायें होती हैं। यह शरीर एक रथ के सदृश है, पाँच कर्मेन्द्रियाँ इसके पाँच घोड़े हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उन घोड़ों की रश्सियाँ हैं। मन इसका सारथी है, प्रकृति इसका चाबुक है। उसी के सहारे जैसे कुम्हार का जड़ चाक घूमता रहता है, वैसे ही प्राणों के कारण यह घूमता रहता है वही आत्मा है। यह जीवात्मा शरीर के द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फलों को भोगता रहता है।

तीसरे प्रपाठक में यह बताया गया है कि यह आत्मा क्या

है ? इस पर बताते हैं पंच तन्मात्रा, पंचभूत, इनके समुदाय को भूतात्मा कहते हैं। इसमें जो चैतन्य रूप से विराजमान है उसे अमृतात्मा जीव कहते हैं। जैसे पुष्करिणी में कमल बैठा रहता है। इस प्राकृत देह संसर्ग से यह जीवात्मा आत्मस्थ भगवान् प्रभु परमात्मा को नहीं देखता, इसीलिये कर्मफलों के भोगने के लिये नाना योनियों में भटकता रहता है। फिर शरीर की अशुचिता निष्कृष्टता बताने के लिये इसे मल-मूत्र का आगार बताया है।

चौथे प्रपाठक में राजा ने पूछा—इसकी कोई विधि बताइये कि भूतात्मा इस शरीर को त्यागकर परमात्मा में सायुज्य प्राप्त कर सकें। इस पर बताया गया है, कि विधिवत वर्णाश्रम धर्म का पालन करे। ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में और गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम में जाकर तपस्या करे। क्योंकि तपस्या के बिना कुछ प्राप्त होता नहीं। तपस्या से सत्व की प्राप्ति होती है, सत्व से मन का निरोध होता है। मन के निरोध से आत्मा की प्राप्ति होती है। आत्मप्राप्ति के अनन्तर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।

फिर प्रश्न यह हुआ अग्नि, वायु, आदित्य, काल, प्राण, अन्न, ब्रह्मा, रुद्र तथा विष्णु ये एक हैं या पृथक्-पृथक्। कुछ लोग एक ही कहते हैं. कुछ इन्हें पृथक्-पृथक् बताते हैं।

इसका उत्तर यह दिया है कि वैसे तो ये लोक व्यवहार में पृथक् पृथक् ही हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों नीचे के लोकों का परित्याग करके ऊपर-ऊपर के लोकों में जाते हैं इनका पृथकत्व नाश होता जाता है और सब उस परम पुरुष में एकत्व को प्राप्त होते जाते हैं।

पञ्चम प्रपाठक में यह बताया है कि ये सब एक ही हैं। कोई कौत्सायनी मुनि हैं उन्होंने एकत्वभाव से उन परमात्मा की स्तुति

की है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, प्रजापति, अग्नि, वरुण, वायु, इन्द्र, चन्द्र, अन्न, यम, पृथ्वी, विश्व आदि सब उन्हीं के नाम बताकर अन्त में कह दिया है जो विष्णु हैं वे ही एक से (ब्रह्मा, विष्णु महेश) तीन हो जाते हैं, वे ही एक से अष्टधा, द्वादशधा अपरिमितधा बनकर समस्त प्राणियों में प्रविष्ट होकर विचरण करते हैं। वे समस्त भूतों के अधिपति हैं। उन्हीं को आत्मा कहते हैं, वे ही सब प्राणियों के भीतर और बाहर भी रहते हैं।

छटे प्रपाठक में आत्मा के दो भेद बताये हैं, एक प्राण दूसरे आदित्य। प्राणरूप से तो वह आत्मा सबके भीतर रहते हैं, आदित्य रूप से बाहर रहते हैं। वह आत्मा हृदय कमल मध्य में अवस्थित है। फिर बताया आदित्य प्रणव ही है। फिर प्रणव की विषदरूप से व्याख्या को गयी है। फिर अन्न की महिमा, उसके भक्षण का प्रकार बताया है फिर अग्नि की महिमा बतायी है। सबका सार अन्त में यही बताया है कि ओम् की उपासना करनी चाहिये। ओम् की ही ज्योति-अग्नि, प्राण और आदित्य इन तीनों में अवस्थित है। जैसे अग्नि में हवन किया जाता है वैसे ही अन्न का नाड़ियों में हवन करते हैं। जैसे हविष्य को अग्नि में हवन करते हैं, वह सूक्ष्म रूप से आदित्य को प्राप्त होता है, आदित्य से सूर्य की रश्मियों द्वारा जल होकर वर्षता है, उससे अन्न उत्पन्न होता है, उस अन्न को प्राणी खाते हैं, उससे वीर्य बनता है, उसी से अन्य जीवों की उत्पत्ति होती है। इसलिये हृदय के भीतर अंगुष्ठ मात्र जो पुरुष है, जो सूक्ष्म है अणु से भी अणु है उनका ध्यान करने से जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

सातवें प्रपाठक में वे ही अनेक उदाहरण दे दे कर सिद्ध किया है यह आत्मा अपहत पाप्मा है, सत्य संकल्प सत्यकाम है।

यही शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, सत्य, प्राण, हंस शास्ता, अच्युत विष्णु नारायण है। जो अग्नि है, जो हृदय में निवास करता है, जो आदित्य रूप में तपता है, वह एक ही आत्मा है। इसमें ब्रह्माजी ने देवता और असुरों के पूछने पर ओम् को ही आत्मकाम का उपाय बताया है। यह उपनिषद् बहुत गम्भीर है, इसमें प्रणव की महिमा बतायी गयी है। अन्य स्थानों के बहुत से मन्त्र उदाहरण के रूप में इसमें उद्धृत किये गये हैं। इसका मर्म आत्मज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष ही भलीभाँति जान सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने बहुत ही संक्षेप में मैत्रायण्युपनिषद् का सार कहा। अब कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् का सार सिद्धान्त श्रवण करने की कृपा करें।"

सूतजी ने पुनः कहा-"शौनकजी! यह जो कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् है, यह कथात्मक है और ज्ञान की खानि है, अतः इसे मैं कुछ विस्तार के साथ बताऊँगा।"

छप्पय

प्राण-ब्रह्म वहु बने जगत के बीज सरिस हैं।
आभ्यन्तर हैं प्राण बाह्य आदित्य रहत हैं॥
जानि 'ओम्' आदित्य ध्यान करि जग तरि जावैं।
प्रणव ब्रह्म सत एक जानि पुनि जग नहिँ आवैं॥
कर्ता भोक्ता ब्रह्म नहिँ, केवल वह तो साक्ष्य है।
मैत्रायणि उपनिषद् को, प्रणव उपासन लक्ष्य है॥

—:—

इति मैत्रायण्युपनिषद्-सार समाप्त

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-सार (१)

[२८६]

चित्रो ह गार्ग्यायणिर्यक्ष्यमाण आरुणिं वव्रे स ह पुत्रं श्वेतकेतुं प्रजिघाय याजयेति तं हासीनं पप्रच्छ गौतमस्य पुत्रास्ति स वृतं लोके यस्मिन्मा धास्यस्यन्य मुताहो वाध्वा तस्य मालोके धास्यसीति। स होवाच नाहमे तद्वेद हन्ताचार्यं पृच्छानीति ॥*

(कौ० ब्रा० उ० १ अ० १ मन्त्र)

छप्पय

कौषीतकि उपनिषद सहित ब्राह्मण कहलावे।
विद्यावर पर्यङ्क प्रथम ही सो बतलावे॥
काम्य और निष्काम यान द्वै प्रथक कहावें।
पितृयान सहकाम देव निष्कामहि जावें॥
भोग कामतें रहित नर, देवयान साधक सबहिं।
अग्नि, वायु, रवि, वरुण पुनि, इन्द्र प्रजापति लोक लहिं॥

---

* गार्ग्यायणि गोत्रीय महाराज चित्र ने अपने यज्ञ के लिये आचार्य रूप में आरुणि को वरण किया। उन्होंने अपने स्थान पर अपने पुत्र श्वेतकेतु को भेजा और कहा—"यज्ञ कराओ। वे जाकर यज्ञ के आसन पर बैठ गये। तब चित्र ने उनसे पूछा—'तुम गौतम के पुत्र हो? संवृत लोक में मुझे ले जाकर रखोगे अथवा दूसरा कोई अध्वा-मार्ग है जहाँ ले जाकर मुझे रखोगे?" उसने कहा—"मैं यह सब नहीं जानता अपने आचार्य से जाकर पूछूँगा।"

सर्वोत्तम विद्या कहीं भी क्यों न हो, उसे ग्रहण कर लेना चाहिये। सुवर्ण कितने भी अपवित्र स्थान में पड़ा हो, सुवर्ण की इच्छा रखने वाला उसे तुरन्त उठा लेगा, शुचि अशुचि का विचार न करेगा। क्योंकि सुवर्ण स्वयं पवित्र है। स्थान की अशुचिता उसे व्याप्त नहीं होती, इसी प्रकार ब्रह्मविद्या सर्वोपरि विद्या है, वह जहाँ से भी प्राप्त हो उसे ले लेना चाहिये, क्योंकि वह परम पावन है। वह अपात्र को प्राप्त हो ही नहीं सकती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आप कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् का सार श्रवण करने की कृपा करें। यह ऋगवेदीय उपनिषद् है। गद्यात्मक उपनिषद् है। इसमें चार अध्याय हैं। 'वाङ् मे मनसि' यह इसका शान्तिपाठ है।

प्रथम अध्याय में महाराज चित्र और आरुणि का सम्वाद है। जिसमें पर्यङ्क विद्या बतायी गयी है। गर्ग गोत्र में उत्पन्न महाराज चित्र ने एक यज्ञ का आयोजन किया। उन दिनों यज्ञ कार्य में अरुण के पुत्र उद्दालक आरुणि बहुत श्रेष्ठ समझे जाते थे। अतः महाभाग चित्र ने उन्हें ही अपने यज्ञ का प्रधान ऋत्विज वरण किया। किसी कार्य विशेष के कारण आरुणि मुनि स्वयं उनका यज्ञ कराने न जा सके। उन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अपने स्थान में यज्ञ करने के लिये भेज दिया। श्वेतकेतु चित्र की यज्ञशाला में जाकर ऋत्विज् के उच्चासन पर विराजमान हो गये। उन्हें ऋत्विज् के आसन पर बैठा देखकर चित्र ने पूछा—"तुम गौतम गोत्रीय आरुणि के पुत्र हो?"

श्वेतकेतु ने कहा—"जी, मैं उन्हीं का पुत्र हूँ, उन्होंने मुझे आपका यज्ञ कराने के लिये भेजा है।"

चित्र ने कहा—"अच्छा कुमार! तुम एक बात बता सकते हो? यज्ञ कराके तुम मुझे किस लोक में भेजोगे? इस लोक में

कोई ऐसा आवृत-ढका हुआ सुरक्षित स्थान है, जिसमें तुम मुझे ले जाकर रखोगे ? अथवा इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग है जिसके द्वारा मुझे किसी दूसरे लोक में स्थापित करोगे ?"

यह सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—"महाभाग चित्र ! मैं तो इस बात को नहीं जानता। हाँ मैं अपने पिता आचार्यदेव से जाकर इस सम्बन्ध में पूछूँगा।"

यह सुनकर श्वेतकेतु पिता के पास पहुँचे और उन्हें सब वृत्तान्त सुनाकर इसका उत्तर चाहा। सत्यवादी धर्मात्मा पिता ने कहा—"भैया ! इसका उत्तर तो मैं भी नहीं जानता। चलो, उन्हीं धर्मात्मा चित्र के समीप शिष्य भाव से चलकर पूछें।"

यह कहकर दोनों पिता पुत्र समित्पाणि होकर चित्र के समीप गये। पिता पुत्र दोनों ऋषियों को अपने समीप शिष्य भाव से आया देखकर चित्र अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"देखो, ब्राह्मण होकर भी आप मुझ क्षत्रिय के समीप शिष्य भाव से पूछने आये हो, अवश्य ही मैं तुम्हें उस विद्या का उपदेश करूँगा।"

ऐसा कहकर चित्र ने उपदेश करना आरम्भ किया। उनके उपदेश का सार यह है, कि देखो दो मार्ग हैं, एक सकाम मार्ग, दूसरा निष्काम मार्ग। सकाम कर्म करने वाले धूम्र मार्ग से पहिले चन्द्रलोक जाते हैं, पुण्य क्षीण होने पर उस स्वर्गलोक से देवता लोग वृष्टि के रूप में परिणत करके उन्हें पुनः इसी लोक में पहुँचा देते हैं। किन्तु जो निष्काम धर्म का अनुष्ठान करने वाले अनासक्त साधक स्वर्गीय सुखों का प्रत्याख्यान कर देते हैं, वे स्वर्गलोक से भी ऊपर नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं।

इसका उपाय यह है, कि संसार से विमुक्त होने वाला मुमुक्षु साधक सर्वप्रथम श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाय;

गुरु पूछें—"तुम कौन हो ?" तो यह यही उत्तर दे—"मैं नाना योनियों में भटकने वाला एक देहधारी जीव हूँ। मैं तो अपने को देह मानता हूँ अब आप ही बतावें यथार्थ में मैं कौन हूँ।" शिष्य की इस जिज्ञासा पर गुरु उसे ब्रह्म विद्या का उपदेश करके संसार से सदा के लिये विमुक्त बना देते हैं।

दो मार्ग हैं, देवयान और पितृयान। पितृयान वाले तो स्वर्ग लोक से लौटकर पूर्व वासना के अनुसार पुनः इस लोक में आकर अंडज, पिंडज, स्वेदज तथा उद्भिज योनियों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु देवयान मार्ग से जाने वाले फिर लौटकर इस लोक में नहीं आते। वे क्रमशः ऊपर जाते-जाते ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं। ब्रह्मलोक में जाने का क्रममार्ग इस प्रकार है।

देवयान मार्ग वाले पहिले अग्निलोक में जाते हैं। फिर क्रमशः वायु, सूर्य, वरुण, इन्द्र, प्रजापति लोकों में होते हुए ब्रह्म लोक में पहुँचते हैं। वह विस्तृत लोक है, उसमें प्रवेश करते ही पहिले 'आर' नाम का जलाशय मिलता है। उससे आगे येष्टिह देव हैं ये ब्रह्मलोक के विघ्न स्वरूप शत्रु हैं। उस आर से आगे 'विजरा' नदी है। यहाँ तक प्राणी को शोक, मोह, जरा, मृत्यु का भय रहता है। विजरा नदी को देखते ही जरावस्था दूर हो जाती है। फिर इससे आगे 'इल्य' नाम का एक वृक्ष है। यह मानों इला-पृथ्वी-का रूप है। वहाँ देवताओं का एक सुन्दर नगर है। विजरा नदी के इस पार देव नगर है, उस पार अर्ध चन्द्राकार एक परकोटा है। उसी के आगे 'अपराजित' नामवाला ब्रह्माजी के निवास का एक मन्दिर है। उस ब्रह्ममन्दिर के द्वारपाल के रूप में वायु और आकाश रूप इन्द्र और प्रजापति उसके द्वारों की रक्षा करते हैं। ब्रह्माजी का मन्दिर परम दिव्य और अद्भुत है। वहाँ का जो सभामंडप है, उसका नाम 'विभुप्रमित'

है। उसके मध्य में जो वेदी बनी है उसका नाम 'विचक्षणा' है। उस वेदी पर ब्रह्माजी का 'अमितौजा' नाम वाला पर्यङ्क-पलङ्ग-है। उनकी प्रिया का नाम मानसी है। उसके अनुरूप ही उसके परम दिव्य आभूषण हैं। उस मानसी की छायामूर्ति एक 'चाक्षुसी' है, वह परम तेजोमयी है। उस ब्रह्ममन्दिर में एक सुललित वाटिका है। उसमें भाँति-भाँति के सुन्दर पुष्प खिले हुए हैं। जरायुज, स्वेदज, उद्भिज और अंडज इन चार प्रकार के प्राणियों का नाम ही जगत है। इस जगत की वस्तुएँ ही मानों उन ब्रह्माजी की वाटिका के सुललित सुमन हैं। वे दो स्वच्छ शुभ्र वस्त्र पहिने पर्यङ्क पर विराजमान हैं। वे वस्त्र भी जगत्रूप ही हैं। ब्रह्माजी के मनोरञ्जन के हेतु जो अप्सरायें हैं उनकी संज्ञा 'अम्बा' और 'अम्बायवी' है। 'अम्बया' नाम की नदियाँ भी वहाँ समीप में ही बह रही हैं। जो इस ब्रह्मलोक के यथार्थ अध्यात्म रूप को जान लेता है वह उसी ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।

अच्छा, देवयान मार्ग से जाने वाले साधक को जब कोई अमानव पुरुष आदित्य के लोक से यहाँ तक विजरा नदी के इस पार तक ले आता है, तो विजरा के इस पार तक तो पतन का भय है, क्योंकि वहाँ आर नाम वाला जलाशय काम क्रोधादि अरियों का प्रतीक इल्य वृक्ष पुनः इला-पृथ्वी-पर पहुँचा सकता है। देवताओं द्वारा सेव्यमान जो दिव्य भव्य नगर है जिसमें सुन्दर भवन, उद्यान, वापी, कूप, तडाग मोहक वस्तुएँ हैं, वे भी भोगों के मोह में डाल सकती हैं। किन्तु जो उस विजरा नदी के पार पहुँच जाता है, ब्रह्माजी के निवास स्थान उनके पर्यङ्क के पास पहुँच जाता है, वह निर्भय हो जाता है।

जो साधक अपनी निष्काम कर्मयोग उपासना द्वारा विजरा के समीप पहुँच जाता है, तो ब्रह्माजी अपनी योग दृष्टि द्वारा उसके आगमन को जानकर अपने परिचारकों तथा अप्सराओं को आज्ञा देते हैं—"तुम लोग शीघ्र जाकर उसे मेरी प्रतिष्ठा के अनुरूप स्वागत सत्कार पूर्वक मेरे समीप ले आओ। क्योंकि वह अपनी उत्कट उपासना के द्वारा वहाँ तक आ गया है। बीच में यह विजरा नदी ही अन्तराय है उसे भी उपासना के बल से पार करके जरा मृत्यु से सदा के लिये रहित हो जायगा।

ब्रह्माजी की आज्ञा पाकर पाँच सौ अप्सरायें विजरा नदी के उस पार खड़े उस मुमुक्षु साधक के स्वागत के लिये जाती हैं। उनमें से सौ के हाथों में तो माङ्गलिक, हरिद्रा, कुंकुम, केशर आदि पदार्थ रहते हैं। सौ के हाथों में परम दिव्य, अत्यन्त सुन्दर स्वच्छ निर्मल अमूल्य वस्त्र रहते हैं, सौ के हाथों में मंगलमय भव्य दिव्य फल रहते हैं, सौ के हाथों में परम सुगन्धित दिव्य अंगराग आदि रहते हैं और सौ के हाथों में सुन्दर सुगन्धित सुमनों की सैकड़ों दिव्य मालायें रहती हैं, वे शीघ्रता से विजरा नदी के उस पार जाकर उसके मानव देह को परिवर्तित करती हैं, उसके शरीर में दिव्य अंगराग लगाकर, दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाकर, दिव्य शृङ्गार करके, दिव्य मालाओं से अलंकृत करके उसे ब्रह्माजी के ही सदृश बना देती हैं। जब वह निष्काम कर्म उपासक ब्रह्मोचित अलङ्कारों से अलंकृत हो जाता है, तब सर्व प्रथम विजरा नदी से उस ओर जो 'आर' नाम का जलाशय है, उसमें बिना घुसे ही केवल संकल्प से ही उसे पार कर जाता है। यदि उसमें आन का अंश शेष रहता है तो उसी जलाशय में डूब जाता है, वह फिर संसार में आ जाता है, क्योंकि ब्रह्मलोक तक पुनरावृत्ति लोक हैं। जिसमें अज्ञान की गन्ध भी नहीं रहती

वह उस पार तालाब को मन से ही पार करके योष्टिय, देवताओं का जो भव्य सुललित नगर है उसमें आता है। उस परम त्यागी महात्मा को देखकर वे मोक्ष में विघ्न करने वाले देवगण भाग जाते हैं। उस नगर के भोगों को तुच्छ मानकर उनकी ओर बिना देखे वह विजरा नदी के निकट आ जाता है। वहाँ तक साधक में पुण्य और पापों का अंश बचा रहता है। अब वह अपने सत्य संकल्प से विजरा नदी को भी पार कर जाता है तो उस पार पहुँचकर वह पुण्य और पापों को झाड़ देता है। अब वह पाप पुण्य से सर्वथा रहित हो जाता है। उसके वे पुण्य पाप कहाँ जाते हैं? इसके लिये बताते हैं, कि उसके जो परम प्रिय सगे-सम्बन्धी होते हैं जो उसकी प्रशंसा करते थे, उनके पास तो उसका पुण्य चला जाता है, और जो उसके द्वेषी निंदक होते थे उनके समीप उसका पाप चला जाता है। वह पुण्य पाप से सर्वथा विमुक्त बन जाता है।

वहाँ से वह इल्व वृक्ष के समीप जाता है, वहाँ की ब्रह्म गन्ध को सूँघकर वह कृतार्थ हो जाता है, फिर साजल्य नगर में जाने पर उसकी रसना में दिव्यातिदिव्य ब्रह्मरस का प्रवेश हो जाता है। उस अभूतपूर्व रस के आस्वादन से उसे परम सुख प्राप्त होता है। तब ब्रह्माजी के 'अपराजित' भवन में प्रवेश करता है। वहाँ जाने पर उसमें ब्रह्मतेज का प्रवेश होता है। ब्रह्माजी के भवन के द्वार पर द्वारपाल के रूप में इन्द्र और प्रजापति खड़े रहते हैं। जब यह सुकृति जीव उनके समीप जाता है, तो वे इसे भीतर जाने से रोकते नहीं। आदर के सहित वे इसके सम्मुख से हट जाते हैं, इसे भीतर जाने का मार्ग दिखाते हैं। तब ब्रह्माजी के भवन में प्रवेश करके उसके भीतर जो ब्रह्माजी का 'अमित' नामक सभा मंडप है, उस दिव्य मंडप में वह . .

अब तक तो उसमें ब्रह्मतेज ने ही प्रवेश किया था, मंडप में जाते ही उसके शरीर मे ब्रह्मयश भी प्रवेश कर जाता है। उस सभा मंडप में भी एक उच्च स्थान पर 'विचक्षणा' नाम की वेदी है, उसी वेदी पर ब्रह्माजी का पर्यङ्क-पलङ्ग-दिव्य सिंहासन-स्थित है। ब्रह्मतेज और ब्रह्मयश के कारण वह सभा मण्डप से उस वेदी पर जाने में समर्थ होता है। उस वेदी पर ब्रह्माजी का 'अमितौजा' नाम का पर्यङ्क बिछा है। वह पर्यङ्क कैसा है? इसको बताते हैं—

उस पर्यङ्क के अगले दो पायों का नाम 'बृहत्' और 'रथन्तर' है, ये दोनों पाये सामवेद स्वरूप हैं। दोनों पिछले पायों का नाम श्यैत और नौधस है-'वैरूप' और 'वैराज' ये भी साम स्वरूप हैं। वे दक्षिण उत्तर के पार्श्व हैं। 'शाकर' और रैवत उस पर्यङ्क के पूर्व और पश्चिम के पार्श्व हैं। फिर वहाँ पलङ्ग के पास जाने पर उस ब्रह्मवेत्ता को विशेष दृष्टि प्राप्त होती है, उसका नाम समष्टि है। वह बुद्धि रूपा है।

ब्रह्माजी के उस 'अमितौजा' पर्यङ्क के पास वह ब्रह्मिष्ठ निर्भय होकर चला जाता है। उस पर्यङ्क के सम्बन्ध में बताते हैं कि वह प्राण स्वरूप है। भूत भविष्य काल उसके अगले पाये हैं। श्री देवी और भू देवी उसके पिछले पाये हैं। उस पलङ्ग की जो दो लम्बी पाटी हैं जो उत्तर दक्षिण भाग में हैं, उन अनूच्य का नाम 'बृहत्' और 'रथन्तर' साम है। पूर्व और पश्चिम की ओर जो सिराहने, पाँइत की ओर छोटी-छोटी सिरा पाटी हैं उनका नाम 'भद्र' और 'यज्ञायज्ञीय' साम है। पूर्व से पश्चिम को जो बड़ी पाटियाँ हैं वे ऋक और साम के प्रतीक हैं। दक्षिण उत्तर की ओर आड़ी तिरछी पाटियाँ यजुर्वेद की स्वरूपा हैं। उस पर्यङ्क पर जो गद्दा बिछा है, वह चन्द्रमा की अत्यन्त कोमल

र्यंकिरणों का है। गद्दे के ऊपर जो सफेद चद्दर बिछी रहती है वह मानों साम का उद्गीथ है। साक्षात् लक्ष्मीजी उस पर्यङ्क की उपवर्हण (तकिया) हैं। उस पर्यङ्क पर ब्रह्माजी विराजमान रहते हैं।

यह जो ब्रह्मज्ञानी है, इसे ब्रह्मतेज, ब्रह्मयश, ब्रह्मस्वरूप प्राप्त हो चुका है, अतः वह उस पलङ्ग पर ब्रह्माजी के साथ बैठने के लिये चढता है, तब ब्रह्माजी उससे पूछते हैं—"तुम कौन हो ?"

वह कहे—' मैं स्वयप्रकाश आत्मा उत्पन्न भूत, भूत, भूत, भूत हूँ। (अर्थात् अतीत, यथार्थ कारण, चतुर्विध सर्ग, पञ्च महाभूत हूँ) मैं आत्मा हूँ। आप भी आत्मा हैं, जो आप हैं वही मैं भी हूँ।"

ब्रह्माजी फिर पूछते हैं—"अच्छा, यदि तुम जानते हो, तो यह बताओ मैं कौन हूँ ?"

तब वह कहे—"आप सत्य हैं।"

तब वे पूछें—"सत्य क्या है ?"

तब वह कहे-"सत् वह है जो सब देवों से-प्राणों से सर्वथा विलक्षण हो। जो देवता और रूप हो वह त्य है। इसी का नाम 'सत्य' वचन है। आप सर्वस्व हैं इसलिये सत्य हैं।"

फिर ब्रह्मा उस ब्रह्मवेत्ता उपासक से पूछते हैं—"मेरे जो पुरुषवाचक नाम हैं, उन्हें तुम किसके द्वारा प्राप्त करते हो ?"

वह कहे—"प्राण से प्राप्त करता हूँ।"

पुनः ब्रह्माजी पूछते हैं—"स्त्री वाचक नामों को किससे प्राप्त करते हो ?"

तब वह कहे—"उन्हें वाणी से प्राप्त करता हूँ।"

ब्रह्माजी—"नपुंसक नामों को किससे प्राप्त करते हो ?

वह कहे—"मन से।"
ब्रह्माजी—"तुम गन्ध का अनुभव किससे करते हो?"
वह—"घ्राणेन्द्रिय द्वारा-प्राण से।"
ब्रह्माजी—"रूप ग्रहण किससे करते हो?"
वह—"नेत्र से।"
ब्रह्माजी—"शब्दों का श्रवण किससे करते हो?"
वह—"श्रोत्रों से।"
ब्रह्माजी—"रसों का आस्वादन किससे करते हो?"
वह—"रसना से।"
ब्रह्माजी—"कर्मों को किससे करते हो?"
वह—"हस्तों से।"
ब्रह्माजी—"सुख दुखानुभूति किससे करते हो?"
वह—"देह से।"
ब्रह्माजी—"रति-अनुभूति पुत्रोत्पत्ति किससे करते हो?"
वह—"उपस्थ से।"
ब्रह्माजी—"चलते किससे हो?"
वह—"चरणों से।"
ब्रह्माजी—"ज्ञान किससे करते हो?"
वह—"प्रज्ञा से।"

जब इतना प्रश्नोत्तर हो चुकता है तब ब्रह्माजी कहते हैं, पंच महाभूत हो मेरे स्थान हैं। मेरा यह लोक भी जलादितत्त्व प्रधान है। तुम मेरे उपासक हो उपास्य से उपासक अभिन्न हो जाता है। अतः जैसा ही यह मेरा लोक है वैसा ही तुम्हारा भी है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! ब्रह्माजी सब पर विजय प्राप्त करने के कारण विजय स्वरूप ही माने जाते हैं, वे सर्वव्यापक हैं। उनका उपासक भी उनकी कृपा से उन्हीं की भाँति विजयी

तथा सर्वव्यापक हो जाता है। यह मैंने कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के प्रथम अध्याय का सार सुनाया। अब दूसरे अध्याय में जैसे प्राणोपासना बतायी गयी है। उसे आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

ब्रह्मलोक में पहुँचि आर विजरा तरि जावें।
दिव्य अपसरा आइ सहित आदर ले जावें॥
ब्रह्म रूप, यश, तेज प्राप्त करि ब्रह्म सरिस बनि।
भवनहु मण्डप सभा जाइँ पर्यङ्क पास पुनि॥
तिनितें पुनि ब्रह्मा कछुक, प्रश्न पूछि हरषात हैं।
उत्तर सुनि निज सम करें, तब कृतार्थ ह्वै जात हैं॥

—०—

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-सार (२)

(२६०)

(प्राणोपासना के प्रकार)

प्राणो ब्रह्मे ति ह स्माह कौषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गोप्तृ श्रोत्रं संश्रावयितृ तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मणे एताः सर्वा देवता अयाचमानायबलिं हरन्ति तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानायैव बलिं हरन्ति य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति ॥*

(कौ० ब्रा० उ० २ म० १...श्लो०)

छप्पय

कौपीतकि मुनि प्राण भूपके सरिस बतायो।
बानी रानी चक्षु सचिव मन दूत कहायो॥
द्वारपाल हैं कान देव सब भेंट करत हैं।
माँगे बिनु सब भोग स्वयं ही सकल धरत हैं॥
प्राण उपासक अयाचक, व्रतकूँ यदि धारण करै।
तो प्राणी सब स्वतः ही, सब भोगनि सम्मुख धरैं॥

---

* कौषीतकि मुनि कहते हैं—"प्राण ब्रह्म है' इस राजा प्राण के मन तो दूत हैं। वाणी परोसने वाली पत्नी हैं। चक्षु संरक्षक हैं, श्रोत्र सदेश सुनाने वाले हैं, उस प्राण ब्रह्म को समस्त इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव बिना माँगे ही बलि अर्पण करते हैं, जो इस बात को जानकर किसी से याचना नहीं करता उसे सभी प्राणी बिना माँगे सब वस्तुएँ अर्पित करते हैं। प्राणोपासक का व्रत यह है वह किसी से माँगे नहीं।"

ओज, बल तथा सह को प्राण देते हैं। माँगने से प्राण निर्बल बनते हैं, ओज क्षीण होता है। अन्तःकरण निर्बल बनता है और साहस कम होता है। हम किसी से किसी वस्तु की याचना कब करते हैं, जब उसे अपने से अधिक सम्पन्न समझते हैं। वास्तविक में तो जिसके शरीर में प्राण हैं वह सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि प्राण से बढ़कर सम्पन्न कोई नहीं। प्राण ही परब्रह्म है। याचना करने वाला कितना भी बड़ा हो, जब वह किसी के द्वार पर याचना करने जाता है, तो उसका मस्तक झुक जाता है। प्राण असमंजस में पड़ जाता है। वह अपने को हीन अनुभव करने लगता है। और की बात तो जाने दो भगवान् भी जब बलि के द्वार पर माँगने गये, तब बौना बनकर–छोटे बनकर–गये और वहाँ उन्होंने अपने को हलका सिद्ध किया, उसके बाप दादों तक को भगवान् से बडा बताया।

याचना करते समय प्राण संकुचित हो जाते हैं। अन्तःकरण में स्वतः ही हलकापन आ जाता है। किसी ने कहा है—सबसे हल्का रुई तल होता है। उससे भी हलका भिक्षुक-मंगता–होता है। तूल तृण को तो वायु उड़ा ले जाती है, मंगता को वायु क्यों नहीं उड़ाती ? तो कहते हैं—मंगता से वायु भी डरती है। कि कहीं मुझसे भी न माँग बैठे। इसी डर से वह याचक को नहीं उड़ाती।

वास्तव में याचक से सभी डरते हैं। जो सदा माँगता रहता है, उसे देने की किसी को इच्छा नहीं रहती। जो माँगता नहीं अयाचक है उसे देने की लोभी को भी इच्छा हो जाती है। अयाचक वृत्ति सबसे श्रेष्ठ वृत्ति है। न माँगने वाले के प्राण सबल होते हैं उसमें साहस, शौर्य, तेज, बल याचक की पेक्षा अधिक होता है, इसीलिये कहावत है— .

खेती भली न बाँट की, बेटी भली न एक।
माँगन भलो न बापतें, जो हरि राखैं टेक॥

प्राणोपासक साधक को अयाचित व्रत धारण करना चाहिये। प्राण किसी से याचना नहीं करते। तो भी समस्त इन्द्रियाँ प्राणों को ही तृप्त करने का सतत प्रयत्न करती रहती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महर्षि कुषीतक के पुत्र कौषीतकि मुनि का कथन है—"प्राण ही ब्रह्म है।" वे प्राणों की राजा के साथ उपमा देते हैं। महाराज! प्राण के दूत रूप में मन है। वाणी भोजन परोसने वाली पत्नी है। चक्षु गोप्ता (रक्षक) है। श्रोत्र सन्देश सुनाने वाला है। प्राण किसी से याचना नहीं करता, फिर भी समस्त इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव स्वतः ही-बिना माँगे-उसे नाना उपहार समर्पित करते हैं। प्राणोपासक को अयाचित व्रत धारण करना चाहिये। याचना न करने वालों को लोग स्वतः ही लाकर देते हैं। जैसे कोई याचक किसी ग्राम में जाकर घर-घर याचना करता है, तो कोई नहीं देता। जब वह न माँगने की दृढ़ प्रतिज्ञा करके बैठ जाता है तो सभी उसे ला-लाकर देते हैं। इसी बात को पैङ्गय मुनि ने दुहराया है, वे प्राणों को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करते हुए कहते हैं कि वाणी से परे चक्षु है। चक्षु से परे श्रोत्र, श्रोत्र से परे मन, मन से परे भी परे प्राण है, प्राण के बिना कोई भी भीतर बाहर की इन्द्रिय काम नहीं करती। इसीलिये समस्त इन्द्रियाँ उसे बलि समर्पित करती हैं। अब प्राणोपासना के कुछ सकाम प्रकार बताते हैं।

१—धन की इच्छा से प्राणोपासना

धन की इच्छा से किसी भी पुण्य तिथि को पवित्र नक्षत्र में शास्त्रीय विधि से वेदी बनाकर उसके-परिसमूहन, आस्तरण,

का वाणीरूप अग्नि में हवन करना है। इस प्रकार वाणी का प्राण में और प्राण का वाणी में हवन होता ही रहता है। इसमें बाहरी अग्नि की तथा बाहरी हविष्य की आवश्यकता नहीं रहती। ये वाणी और प्राण की दो आहुतियाँ अनन्त और अमृत हैं। इन दोनों में अग्निहोत्र बुद्धि हो जाना ही आध्यात्मिक अग्निहोत्र है। ये प्राण की आहुतियाँ जाग्रत और सुषुप्ति अवस्था में भी निरंतर होती ही रहती हैं। यह आध्यात्मिक अग्निहोत्र बाहरी द्रव्यमय अग्निहोत्र से परमश्रेष्ठ है।

४—प्राण की उक्थोपासना

सामवेद की उक्थोपासना पीछे बता आये हैं। शुष्कभृङ्गार मुनि प्राणों को ही उक्थ मानकर उसकी उपासना बताते हैं। वह उक्थरूप प्राण ही ब्रह्म है। वही यजु, ऋक्, श्री, साम, श्री, यश, तेज है। जो प्राण की इन-इन भावना से उपासना करता है, उसके सम्मुख सभी प्राणी नत मस्तक हो जाते हैं। जैसे दिव्य धनुष के सम्मुख समस्त आयुध छोटे पड़ जाते हैं।

५—ऋत्विजों की वेदिका रूप में प्राणोपासना

ईंटों से जो यज्ञवेदी बनायी जाती है उसमें अध्वर्यु प्राणों को ही अग्नि मान ले और उसी प्राणरूप अग्नि से अध्वर्यु (ऋग्वेद का ज्ञाता ऋत्विज्) अपना संस्कार करे। यज्ञ में जो यजुर्वेद अनुष्ठित कर्म हैं उनका होता प्राण में ही विस्तार करे। जब प्राणों में यजुर्वेद साध्य कर्म कर चुके तो फिर उद्गाता साम सम्बन्धी कर्मों का विस्तार करे। इस प्रकार इष्टिका चयन के अनंतर यज्ञ वेदी पर बिना बाहरी अग्नि के ही प्राणरूप अग्नि में अध्वर्यु, होता और उद्गाता अपने-अपने वेद साध्य कर्मों का विस्तार करता है, तो उसे अध्वर्यु रूप में इस प्राण की उपासना से संपूर्ण

वेदों से यजन करने का फल प्राप्त होता है, क्योंकि यह प्राणत्रयी विद्या का आत्मा है।

६—प्राण की सूर्यरूप में अधमर्षण उपासना

प्रातःकाल, मध्यान्ह काल और सायंकाल तीनों समय में पवित्र होकर सूर्य में ही प्राण बुद्धि करके खड़ा होकर सूर्य की आराधना करते हुए उन्हें अर्घ्य दें। इस मन्त्र को प्रातः पढ़े आप वर्ग हैं, मेरे पापों को मुझसे दूर कीजिये। मध्यान्ह में उन्हें उद्वर्ग और सायंकाल में संवर्ग कहे। वर्ग, उद्वर्ग, संवर्ग में प्रथमा और आगे असि लगाकर पाप्मानं मे वृड्धि कहे। सायं काल में संवृड्धि कहे। इस प्रकार सूर्य में प्राण भावना करके उपस्थान पूर्व जो उक्त तीनों मन्त्रों से तीनों काल में अर्घ्य देता है, उसके दिन रात्रि के किये हुए समस्त पाप क्षय हो जाते हैं।

७—प्राण की चन्द्र रूप में पुत्र शोक न होने की उपासना

'मुझे पुत्र शोक न हो' इस कामना से चन्द्रमा की प्राण रूप में उपासना करनी चाहिये। अमावस्या के दिन जब सूर्य पश्चिम भाग में चला जाय और सूर्य की सुषुम्णा नामक किरण में चन्द्रमा दिखायी दें उस समय जैसे पहिले सूर्य को अर्घ्य दिया था, वैसे ही चन्द्रमा को अर्घ्य दे, क्योंकि यह पुत्र के आरोग्य कामना की उपासना है इसलिये अर्घ्य में दोहरी दूब के अंकुर भी रख ले। चन्द्रमा को जो अर्घ्य दे 'यत्ते सुसीमं' इत्यादि मन्त्र से दे। सुसीमा सोममंडल की अधिष्ठातृ देवी का नाम है। मन्त्र का भाव यह है हे देवि! तुम्हारे हृदय की सीमा सुन्दर है। तुम्हारा हृदयस्थित आनन्दमय स्वरूप चन्द्रमंडल में है उससे तुम अमृतत्व पर अधिकार रखती हो, इसलिये मुझे शोक

से रोना न पड़े आप ऐसी मुझ पर दया करो। फिर आप्यास्व, आप्यायमानो और यमादित्या इत्यादि तीन ऋचायें हैं उनका जप करे। फिर चन्द्रमा के सम्मुख दायाँ हाथ उठाकर 'मास्माक' इत्यादि ऋचा का पाठ करे, फिर दायें हाथ को बार-बार घुमावे। ऐसा करने वाले को पुत्र शोक नहीं होता।

८-प्राण की चन्द्र रूप में पुत्र शोक न होने की दूसरी उपासना

पहिले जैसे बता आये हैं, वैसे ही किसी मास की पूर्णिमा तिथि को सायंकाल में जब पूर्व दिशा में चन्द्रदेव उदित हों, तब चन्द्रमा का उपस्थान अर्घ्य प्रदान करके 'सोमो राजासि' इत्यादि ऋचा का पाठ करे। पाठ करके दाहिनी बाँह को बारम्बार घुमावे।

फिर उस बच्चे की माँ-जिसके पुत्र की दीर्घजीवी होने की कामना करनी है। अपनी पत्नी के हृदय का स्पर्श करे। हृदय स्पर्श करते हुए 'यत्ते सुसीमे' इत्यादि ऋचा को पढ़े। उस ऋचा का भाव यह है कि "हे सुन्दरि सीमन्तिनी ! तुम सोममयी हो तुम्हारा हृदय संतति का पालक है, उसमें जो चन्द्रमंडल के सदृश अमृत राशि विद्यमान है उससे मैं परिचित हूँ। उसी सत्य के प्रभाव से मुझे पुत्र के सम्बन्ध में कभी रोना न पड़े।"

इस प्रकार प्राणरूप चन्द्रमा में और स्तनमंमण्डल में एकतानता करके यह उपासना है।

९-पुत्र को चिरजीवी होने का आशीर्वाद।

पिता जब परदेश आदि से चिरकाल में लौटे, तब अपने पुत्र के मस्तक का प्रेमपूर्वक स्पर्श करे, और 'अङ्गादङ्गात्' इत्यादि मंत्र को पढ़े। इस मन्त्र का तात्पर्य यह है, "हे पुत्र ! (उसका नाम ले) मेरे प्रत्येक अङ्ग से तुम उत्पन्न हुए हो, मेरे हृदय से तुम जायमान

हुए हो। तुम मेरी आत्मा ही हो। तुमने मेरी पुत् नामक नरक से रक्षा की है। तुम्हारी शतायु हो।" ऐसा कहकर पुत्र का नाम उच्चारण करते हुए 'अश्मामव' इत्यादि ऋचा को पढ़ना चाहिये। उस ऋचा का भाव यह है। 'बेटा! तुम पत्थर के सदृश दृढ़ बनो। परशु कुठार सदृश तीक्ष्ण बनो। बिछे हुए सुवर्ण के सदृश सर्व-प्रिय बनो। सब अङ्गों का जो तेज है वही तुम अमुक नाम वाले पुत्र हो। तुम्हारी शतायु हो।' फिर "येन प्रजापतिः" इत्यादि ऋचा को पढ़े। इसका भाव यह है "जिस तेज से प्रजापति अपनी प्रजा को अरिष्टों—दुःखों से—बचाते हैं उसी तेज से मैं तुम्हें (नाम ले) ग्रहण करता हूँ।"

फिर उसके दाहिने कान में "अस्मै प्रयन्धि" इत्यादि ऋचा को पढ़े। उसका भाव यह है—"हे मघवन्! इस मेरे (अमुक) पुत्र की सरल भाव से रक्षा करें। हे इन्द्र! इसे श्रेष्ठ-श्रेष्ठ धनों को देते रहें।" इसी ऋचा को दूसरे कान में भी पढ़े। फिर प्रेमपूर्वक पुत्र का मस्तक सूँघकर "माच्छित्था" इत्यादि ऋचा को पढ़े। इस ऋचा का भाव यह है कि—'देखो, बेटा! तुम वंश परम्परा का उच्छेद मत करना। तुम्हें कभी व्यथा न हो। तुम्हारी शतायु हो। सौ वर्ष जीओ। हे पुत्र! मैं (अमुक नाम वाला) तुम्हारा पिता तुम्हारे मस्तक को सूँघ रहा हूँ। ऐसे तीन बार मन्त्र पढ़े और तीनों बार पुत्र का मस्तक सूँघे। फिर तीन बार "गवांत्वा" इत्यादि ऋचा को पढ़कर 'हिम्' 'हिम्' 'हिम्' इस शब्द का उच्चारण करे। ऋचा का भाव यह है कि जैसे गौ अपने बच्चे के लिये रँभाती है उसी प्रकार वत्स! मैं भी तेरे लिये हिंकार करता हूँ। हिंकार करके तुम्हें समीप बुलाता हूँ।"

१०—प्राणोपासना दैव परिमर रूप में

प्राण की दैव परिमर रूप में उपासना कैसे करनी चाहिये,

इसका प्रकार बताते हैं—अग्नि को ब्रह्म मानकर उपासना करे। वैसे अग्नि तो सदा सर्वदा ब्रह्म के सदृश व्याप्त है। जब वह प्रत्यक्ष प्रज्वलित नहीं होती तो उसकी 'मर' संज्ञा है। उस समय उस अग्नि का तेज आदित्य में प्रवेश कर जाता है। तथा प्राण वायु में मिल जाता है। इसी प्रकार सूर्य जब प्रकाशित नहीं होता तो उसका तेज चन्द्रमा में तथा प्राण वायु में मिल जाता है जब चन्द्र भी नहीं दिखायी देता तो उसका तेज विद्युत् में और प्राण में मिल जाता है। जब विद्युत् भी प्रकाशित नहीं होती तो उसका तेज वायु में मिल जाता है और प्राण भी वायु में प्रवेश कर जाता है अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत, वायु तथा प्राण इन सब सब रूपों में एक ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जिन देवताओं का ऊपर नाम गिनाया है ये सबके सब वायु में ही प्रवेश करके स्थित रहते हैं। वायु रूप ही इनका देह है। अतः ये वायु में विनष्ट नहीं होते। बाहरी वायु प्राण का आदिदैविक रूप है।

अब प्राण का आध्यात्मिक रूप बताते हैं। वाणी से जो पुरुष बोलता है, वह मानों ब्रह्म ही बोल रहा है। जब पुरुष बोलता नहीं उस समय मानों वाणी मर गयी। उस समय वाणी का तेज नेत्र को प्राप्त होता है। इसी प्रकार नेत्र कान देखने पर तेज कान को, कान मन को, मन का तेज काम न करने पर प्राण को प्राप्त हो जाता है। प्राण तो प्राण में मिल ही जाता है। बाहरी प्राण (आधिदैविक) वायु है। भीतरी प्राण (आध्यात्मिक) प्राण हैं। ये जो वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन तथा प्राण हैं ये जो प्रकाशित होते हैं मानों ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। उपर्युक्त सभी इन्द्रियाँ प्राण में ही प्रवेश करके स्थित हैं, प्राण में लीन होने पर भी वे नष्ट नहीं होतीं। इसीलिये प्राण से ही उनका फिर भी प्राकट्य हो जाता है।

यही दैव परिमर प्राण का स्वरूप है। एक देव काम न करने पर मरा हुआ-सा हो जाता है, उसका तेज दूसरे में चला जाता है, फिर सबका तेज प्राण में एकत्रित हो जाता है। प्राण में एकत्रित होने पर वे मरते नहीं। क्योंकि प्राण नित्य है, ब्रह्म है, अमृत है। इस प्रकार जिसे प्राण के अमृतत्व का, दैव परिमर भाव का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, वह संसार के सबसे बड़े दो पर्वतों को कह दे-कि तुम चलो, तो वे पर्वत चलने लगते हैं, वे ऐसे महा-पुरुष की आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकते। अर्थात् दैव-परिमर का उपासक सम्भव असम्भव सब कुछ करने में समर्थ होता है।

११-मोक्ष के निमित्त प्राणोपासना

प्राण समस्त इन्द्रिय देवताओं से श्रेष्ठ है, इस पर दृष्टान्त देते हैं। एक बार वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि समस्त इन्द्रिया-धिष्ठित देव प्राण के साथ शरीर को छोड़कर चले गये। शरीर शव के सदृश पड़ा रहा। फिर क्रम-क्रम से वाणी, नेत्र, श्रोत्र तथा मन ने शरीर में प्रवेश किया। इनके प्रवेश करने पर शरीर बोलता, देखता, सुनता तथा मनन तो करता रहा किन्तु प्राणों के बिना उसमें उठने की शक्ति नहीं थी। प्राणों के प्रवेश करते ही शरीर उठने-बैठने लगा। तब सभी देवों ने प्राण के श्रेष्ठत्व का लोहा मान लिया। तब सभी ने प्राण में ही मोक्ष की शक्ति मान ली। मोक्ष के लिये शरीर त्यागकर प्राणों को साथ लेकर ही देवगण ऊपर के लोकों की ओर चले। वे वायु में स्थित होकर आकाश द्वारा स्वर्गादि लोकों में गये। इसी प्रकार शरीर त्यागकर प्राणवेत्ता महापुरुष वायु, आकाश स्वरूप होकर ब्रह्मलोक पर्यन्त चला जाता है। अन्त में जिस प्राण में वाणी, श्रोत्र, चक्षु मन देवता स्थित हैं, उस प्राण का ही स्वरूप हो जाता है।

स्वयं ही अमृतत्व गुण है अतः वह प्राणरूप होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। क्योंकि प्राण ही ब्रह्म हैं।

१२—प्राणोपासक का पुत्र के प्रति सम्प्रदान कर्म

पिता को जब यह प्रतीत होने लगे, कि अब मुझे इस लोक से प्रस्थान करना है, तो अपना उत्तराधिकार पुत्र को सम्प्रदान कर दे। पुत्र को पिता अपना उत्तराधिकारत्व कैसे प्रदान करे? इसकी विधि बताते हैं। अग्निहोत्री पिता जिस दिन अपना उत्तराधिकार पुत्र को प्रदान करे उस दिन अपनी यज्ञशाला को नूतन कुश-कास आदि तृणों से आच्छादित करे। यज्ञ की समस्त सामग्रियों को यथा स्थान स्थापित करे। विधि पूर्वक अग्नि की स्थापना करे। जल से भरा कलश, उसके ऊपर धान्य से भरा पात्र रखे। स्वयं नवीन दो वस्त्रों को धारण करे। माला आदि से अलंकृत होकर घर में से पुत्र को बुलावे। पुत्र के आने पर उसका गाढ़ालिङ्गन करे। उसके अंगों में अपने अंगों को मिला दे। अर्थात् अपने आप में उसे मिला ले। फिर उसे अपने सम्मुख बैठाकर अपनी इन्द्रियों का उसे सम्प्रदान करे।

पहिले पिता कहे—"वत्स! मैं अपनी वाणी को तुम्हारी वाणी में स्थापित करता हूँ।"

पुत्र कहे—"पिताजी! आपकी वाणी को मैं अपने में धारण करता हूँ।"

इसी प्रकार प्राण, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्नरस, कर्म, सुख-दुःख, आनन्द, गतिशक्ति, बुद्धि वृत्ति तथा कामनाओं को पिता कहे मैं तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र प्रतिबार उसका यही उत्तर दे पिताजी! आपके दिये हुए प्राण, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्नरस,

समस्त कर्म, सुख-दुःख, आनन्द, गतिशक्ति, बुद्धिवृत्ति तथा समस्त कामनाओं को मैं अपने में धारण करता हूँ।

पिता से सब कुछ प्राप्त करके पुत्र पिता की प्रेमपूर्वक प्रदक्षिणा करके पूर्व दिशा की ओर से पिता के पास प्रस्थान करे। उस समय प्रस्थान करते हुए पुत्र को पीछे से सम्बोधित करते हुए पिता, "यशोब्रह्मवर्च" इत्यादि ऋचा को पढ़े। उसका भाव यह है कि—हे पुत्र! यश ब्रह्मतेज तुम्हारा सेवन करें, तुम्हे अन्न खाने की और खाये हुए अन्न को पचाने की शक्ति प्राप्त हो तथा उत्तम कीर्ति और समस्त सद्गुण सतत तुम्हारा सेवन करें।"

पिता के ऐसा कहने पर पुत्र वाम कन्धे की ओर से दृष्टि घुमाकर हाथ से अथवा वस्त्र से आड़ करके पिता का दर्शन करे और उत्तर में 'स्वर्गान्लोकान्" इस ऋचा को पढ़े। उसका भाव यह है कि—"पिताजी! अब आप अपनी इच्छानुसार स्वर्गादि लोकों को पधारें और उन लोकों के सुखों का उपभोग करें।"

बस, इसी का नाम पुत्र के प्रति सम्प्रदान कर्म या उत्तराधिकार प्रदान कर्म है। फिर पिता को घर में नहीं रहना चाहिये। रोग ग्रस्त हो तो मृत्यु का आलिंगन करे। निरोग हो तो घर से निकलकर पुण्य तीर्थों का सेवन करे–संन्यास धारण कर ले। यदि घर में रहे ही तो पुत्र के प्रभुत्व में रहे–पुत्र के अधीन होकर उसकी इच्छानुसार बर्ताव करे। क्योंकि इसने अपनी वाणी आदि इन्द्रियों की शक्ति को तो पुत्र को प्रदान कर दिया है। अब उसके समस्त कार्यों का एकमात्र उत्तराधिकारी पुत्र ही हो गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस पर संक्षेप में मैंने प्राणो-

पासना के सम्बन्ध में बताया अब तीसरे अध्याय में जैसे प्रज्ञा-स्वरूप प्राण की महिमा बतायी है, उसका वर्णन आगे करूँगा ।"

छप्पय

प्रथम प्रानको रूप अर्थ अरु बशीकरन हित ।
अग्निहोत्र अध्यात्म और अधमर्षण सूचित ॥
पुत्र शोक नहिँ होइ उपासन विविध बताईं ।
प्राणोपासन दैव वही परिमर कहलाईं ॥
कही मोक्ष हित उपासन, सम्प्रदान सुत के निमित ।
मुख्य उपासन प्रान है, प्रान ब्रह्म यह धरहुचित ॥

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-सार (३)

[२६१]

(प्रज्ञा स्वरूप प्राण की महिमा)

प्रतर्दनो ह दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम। युद्धेन च पौरुषेण च तं हेन्द्र उवाच। प्रतर्दन वरं ते ददानीति स होवाच प्रतर्दनः। त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति तं हेन्द्र उवाच ॥*

(कौ० ब्रा० उ० ३ अ० १...... मं०)

छप्पय

भूप प्रतर्दन युद्ध हेतु सुरलोक पधारे।
युद्ध कलातें तुष्ट इन्द्र यों वचन उचारे॥
'वर माँगो' नृप कह्यो–होइ हित नर सो दीजे।
प्रान महा विज्ञान विज्ञ हौं सो तुम लीजे॥
आयु अमृत के रूप में, हौं ही प्रज्ञा प्रान हूँ।
प्रान बिना इन्द्रिय व्यरथ, जीवन प्रान प्रधान हूँ॥

---

* राजा दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन देवताओं की प्रार्थना पर असुरों से लड़ने स्वर्गलोक में गये। उन राजा के युद्ध कौशल तथा पुरुषार्थ से सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने उनसे कहा—"हे राजन्! प्रतर्दन! मैं तुम्हें वर देना चाहता हूं, बोलो, क्या वर तुम्हें दूं?" इस पर महाराज प्रतर्दन ने कहा—"देवराज! जिससे मनुष्यों का परम कल्याण हो, ऐसा कोई वर आप स्वयं ही सोच विचार कर मुझे दें।"

जैसे मनुष्यों में सब मनुष्य ब्रह्मज्ञानी नहीं होते। ऋषियों में, ब्राह्मणों में, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों में भी कोई-कोई ब्रह्मज्ञानी होता है, इसी प्रकार देवताओं में तथा देवताओं के राजा इन्द्रों में सभी इन्द्र ब्रह्मज्ञानी नहीं होते। इन्द्रों में भी कोई-कोई इन्द्र तो ऐसे होते हैं, जिन्हें फिर चींटा, चींटी आदि योनियों तक में जन्म लेना पड़ता है। कोई-कोई इन्द्र ब्रह्मज्ञानी भी होते हैं। जो मोक्ष तक का उपदेश करते हैं। ऐसे ही एक प्राणोपासक ब्रह्मज्ञानी इन्द्र के द्वारा बतायी हुई प्रज्ञास्वरूप प्राणों की महिमा का वर्णन यहाँ किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रज्ञा रूप में प्राणों की उपासना का महत्त्व बताते हुए कहते हैं–एक बार देवताओं में और असुरों में युद्ध हुआ। देवताओं ने अपने पक्ष को निर्वल समझकर उस समय पृथ्वी पर जो महाराज दिवोदास के पुत्र महाराज प्रतर्दन शासन करते थे, उनसे युद्ध में सहायता करने की प्रार्थना की। देवराज इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार करके महाराज प्रतर्दन इन्द्र की सहायता करने इन्द्र के प्रिय धाम स्वर्ग में गये और उनकी सहायता की। उनकी युद्ध कुशलता तथा पुरुषार्थ से सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने कहा—"राजन्! मैं तुम से सन्तुष्ट हूँ, तुम कोई इच्छित वर मुझसे माँग लो।"

राजा ने कहा—"देवराज! मैं तो माँगना जानता नहीं। आप ही कोई सोच समझकर ऐसा वर स्वयं दे दीजिये। जिससे मनुष्यों का परम कल्याण हो।"

इन्द्र ने राजा से अपने हित के लिये अन्य वर माँगने को बहुत कहा, किन्तु राजा ने अपने लिये अन्य कोई वर माँगा ही नहीं। तब इन्द्र क्या करते। वे प्राणब्रह्म के ज्ञाता थे। और उन्होंने ब्रह्म के साथ तादात्म्य भाव कर लिया था अतः बोले—

"शुभ्र प्राण ब्रह्म स्वरूप को जान लेना यही मनुष्य मात्र के लिये परम कल्याणप्रद कार्य है।

जिसे ब्रह्म का तादात्म्य प्राप्त हो चुका है। जिसमें अहंकार भाव रह नहीं गया है, वह समस्त लोकों की हत्या भी कर दे, तो भी उसे कोई पाप नहीं लगता। मैं ब्रह्मवेत्ता हूँ, मैंने विश्वरूप ब्राह्मण को मार डाला, बहुत से अज्ञानी पुरुष व्यर्थ ही संन्यासी का वेष बनाये आश्रमोचित आचार से भ्रष्ट अहंकार के वशीभूत होकर बहिर्मुख होकर विचरते थे। ऐसे असंख्यों मिथ्या संन्यासियों के मैंने टुकड़े कर करके भेड़ियों को उनका मांस खिला दिया। बहुत से असुर राजाओं को भी मार डाला फिर भी मेरा बाल भी बांका नहीं हुआ। यह क्यों हुआ? क्योंकि मैं प्रज्ञा स्वरूप प्राण की महिमा जानकर तादात्म्य भाव को प्राप्त हो चुका हूँ।"

राजा ने कहा—"उसी प्रज्ञा स्वरूप प्राण की महिमा का उपदेश मुझे कीजिये।"

इन्द्र ने कहा—"देखो, प्रज्ञा स्वरूप प्राण मैं ही हूँ। तुम [illegible] की आयु और अमृत रूप में उपासना करो। [illegible] प्राणों से ही है और प्राण अमृत स्वरूप [illegible] है। क्योंकि [illegible] लोक में प्राणी प्राण से ही अमृतत्व सुख [illegible] करता है सत्य का अनुभव प्रज्ञा से ही होता है। [illegible]

प्राण के द्वारा ही सभी इन्द्रियाँ [illegible] है [illegible] इन्द्रियों बिना शरीर का काम जैसे [illegible] जाता है [illegible] [illegible]राणों के बिना शरीर शव बन जाता है [illegible] [illegible] है। यही शरीर को उठाता है इसलिये [illegible] [illegible]। प्रज्ञाप्राण एक ही है, जीवात्मा [illegible] [illegible] उत्क्रमण करता है। प्राण से [illegible]

प्रकट होते हैं और प्राण में ही ये सब विलीन हो जाते हैं। मरते समय समस्त इन्द्रियाँ विषयों सहित प्राण में ही समर्पित हो जाती हैं। प्रज्ञा प्राण एक ही हैं, प्रज्ञा में ही सम्पूर्ण भूत एक हो जाते हैं। वाक्, घ्राण, नेत्र, श्रोत्र, रसना, हाथ, शरीर, उपस्थ, पैर और प्रज्ञा। इनके वाणी, गन्ध, रूप, शब्द, रस, उठाना धरना, सुख-दुख की अनुभूति, आनन्दानुभूति, चलना और निश्चय ये इनके विषय हैं। ये ही बाहर की ओर विषय से कल्पित भूत मात्रायें-पञ्च भूतों के अंश-कहलाती हैं। ये दशों प्रज्ञा के एक-एक अंग की पूर्ति करती हैं। प्रज्ञा द्वारा ही इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण किया करती हैं। प्रज्ञा से रहित इन्द्रियाँ कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकतीं। इसलिये इन्द्रियों को जानने की इच्छा न करे। इन्द्रियों का जो प्रेरक है उसी की जानकारी करे। इन्द्रियाँ प्रज्ञा की प्रेरणा से ही सब कुछ करती हैं। वे प्रेरक आत्मस्वरूप प्राण ही हैं। पीछे जो दश भूत-मात्रायें बतायीं हैं ये सब प्रज्ञा के ही अधीन हैं। इन्द्रियाँ और उनके विषय परस्पर में सम्बद्ध हैं। इन्द्रियाँ हों विषय न हों तो इन्द्रियाँ किसका उपभोग करेंगी और केवल विषय हों और इन्द्रियाँ न हों तो विषयों का उपभोग कौन करेगा! और इन्द्रिय तथा विषय जो भूतमात्रायें हैं ये प्रज्ञा के अधीन हैं। प्रज्ञामात्रा में ही ये भूतमात्रायें सन्निविष्ट हैं। प्रज्ञामात्रा और भूतमात्रा का विषय और इन्द्रियों की भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नहीं है। प्रज्ञामात्रा में तो भूतमात्रा सन्निहित है। स्थित है। जैसे रथ की नेमि में अरे लगे रहते हैं। और यह प्रज्ञा प्राण में प्रतिष्ठित है। यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्दमय, अजर तथा अमृत स्वरूप है। यही प्राज्ञात्मा प्राणियों से समस्त कर्म कराता है, किन्तु वह उन कर्मों के फलों को नहीं भोगता। वह साक्षी रूप में कर्मों से निर्लेप

रहता है। अहंकार विमूढ़ात्मा अपने को कर्ता मानकर दुःख-सुख भोगता है। प्राण रूप में यह प्रज्ञात्मा उसके जैसे कर्म होते हैं वैसे ही लोकों में ले जाकर उससे सुख-दुःख भुगवाता है। यह प्रज्ञास्वरूप प्राण लोकपाल है, यही समस्त लोकों का अधिपति है, यही सर्वेश्वर है।

इन्द्र कह रहे हैं—"हे प्रतर्दन! समस्त गुणों से युक्त यह प्रज्ञा स्वरूप प्राण ही मेरी आत्मा है। इस विषय को जो भली-भाँति जान लेता है, वह भी मेरी ही आत्मा है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इन्द्र ने राजा प्रतर्दन को प्रज्ञा स्वरूप प्राण की महिमा का उपदेश किया। मनुष्यों के परम कल्याण को कराने वाली यही विद्या है। राजा प्रतर्दन ने इस विद्या को प्राप्त करके मनुष्यों के कल्याण की कामना से इसे लोक में प्रकाशित किया।

अब प्राणों की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में गार्ग्य मुनि और महाराज अजातशत्रु में जैसे सम्वाद हुआ उसका भी संक्षेप में वर्णन सुन लीजिये।

सूतजी ने कहा—"मुनियो! गर्ग गोत्र में उत्पन्न एक गार्ग्य नामक ब्राह्मण थे, उनकी माता का नाम बलाका था, वे उशीनर देश के निवासी थे, समस्त वेद शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी उन्हें ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान नहीं था। फिर भी वे अपने को ब्रह्म-वेत्ता मानते थे। एक बार वे घूमते-घामते काशिराज महाराज अजातशत्रु की राज सभा में गये। महाराज अजातशत्रु ब्रह्मवेत्ता थे। उनकी सभा में जाकर गार्ग्य मुनि ने कहा—"राजन्! मैं तुम्हें ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करूँगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मेरी सभा में स्वयं पधारकर आपने मुझे ब्रह्मतत्त्व का अधिकारी समझा इससे आपने मेरा बहुत

गौरव बढ़ाया है। नहीं तो विद्वान् लोग महाराज मैथिल जनक को ही ब्रह्मवेत्ता जानकर दान लेने और उपदेश करने उन्हीं की सभा की ओर दौड़े जाते हैं। आपने मुझे भी ब्रह्मविद्या प्रदान करने का पात्र समझा इसके लिये मैं आपको एक सहस्र गौएँ अर्पित करता हूँ। इसके पश्चात गार्ग्य मुनि महाराज अजातशत्रु को ब्रह्म का उपदेश करने लगे।

सूतजी कह रहे हैं—"यह विषय कुछ ही शब्दों के हेर फेर से बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में ज्यों का त्यों आ चुका है। वहाँ इसका वर्णन विस्तार के साथ हो चुका है, अतः यहाँ अत्यन्त ही संक्षेप में इसका संकेत किये देते हैं। विशेष रूप से जानना हो तो उसी को पुनः-पुनः पढ़े।

गार्ग्य ने पहिले सूर्यमण्डल में जो अन्तर्यामी पुरुष है इसी को ब्रह्म मानकर उपासना करने को कहा। राजा के यह कहने पर कि इसे तो मैं पहिले से ही जानता हूँ। इस उपासना का यह फल है। तब गार्ग्य ने फिर क्रम से चन्द्र मंडल में स्थित, विद्युन्मण्डल में, मेघ मंडल में, आकाश मंडल में, वायु मंडल में, अग्नि मंडल में, जल मंडल में, दर्पण में, प्रतिध्वनि में, ध्वन्यात्मक शब्द में, शरीरान्तर्वर्ती पुरुष में, प्रज्ञा से संयुक्त प्राणरूप आत्मा में, दाहिने नेत्र पुरुष में और बायें नेत्र पुरुष में, अन्तर्यामी पुरुष रूप में उपासना बताई। अजातशत्रु सबके प्रति अपनी जानकारी प्रदर्शित करता गया और उस उपासना का फल भी बताता गया। जब बायें नेत्र में स्थित पुरुष की ब्रह्मभाव से उपासना बतायी और राजा ने उसमें भी अपनी जानकारी का संकेत किया। तब तो गार्ग्य चुप हो गये और समित्पाणि होकर राजा का शिष्यत्व स्वीकार करके

उनसे आगे उपदेश करने को कहा। राजा ने अपनी उदारता दिखाते हुए कहा—"ब्राह्मण क्षत्रिय का शिष्य बने यह तो ब्रह्मन्! विपरीत बात हो जायगी। अतः गुरुभाव से नहीं मैं मैत्रीभाव से आपको उपदेश करूँगा। यह कहकर राजा गार्ग्य मुनि को एक सोते हुए पुरुष के समीप ले गये। पहिले तो उसका नाम लेकर बुलाया वह नहीं जागा। जब छड़ी से उसके शरीर पर आघात किया तो वह उठ पड़ा।

तब राजा ने समझाया—"देखिये, ब्रह्मन्! जब यह पुरुष अचेत होकर सो रहा था। उस समय यह हृदय की जो बहत्तर हजार हिता नाड़ियाँ हैं उन्हीं मे स्थित था। उस सुषुप्तावस्था में वाक्, नेत्र, श्रोत्र और मनादि ये सबके सब प्राण में लय हो जाते हैं। जब यह जाग जाता है, तो समस्त इन्द्रियाँ प्राण में से निकल कर अपने-अपने कामों में जुट जाती हैं। इन्द्रियो के अधिष्ठातृ देव तथा उनके नाम आदि विषय प्रकट होते हैं। इसलिये इस प्रज्ञावान् प्राण स्वरूप आत्मा से ही समग्र प्राण, समस्त लोक, समस्त देव, समस्त भूत, विविध रूपों में प्रकट होकर अपने-अपने कार्यों में सलग्न हो जाते हैं। यहाँ [illegible] का सत्य है। प्राण ही सत्य हैं, उन्हीं का सत्य यह आत्मा है। जो इस प्रज्ञावान् प्राणब्रह्म को जान लेता है, उसके समस्त पाप नाश हो जाते हैं, उसे स्वाराज्य और प्रभुत्व प्राप्त हो जाते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! इस प्रकार [illegible] कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के तीनों अध्यायों में [illegible] ही वर्णन है। इस प्रकार मैंने सक्षेप मे कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् का सार सुनाया, अब आप बृहज्जाबालोपनिषद् [illegible] करें।"

छप्पय

(१)

प्रान अमृत अरु अजर वही प्रज्ञा आनँदमय।
जो जाने जा रहस होइ पूतात्मा निरमय॥
काशिराज अरु गार्ग्य भयो सम्वाद ब्रह्ममय।
गार्ग्य कह्यो रवि, चन्द्र, अनिल, घन, नभ विद्युतमय॥
अग्नि, नीर आदर्श अरु, ध्वन्यात्मक प्रतिध्वनिहु पुनि।
तनु प्रज्ञायुत प्राण पुनि, दायें बायें नेत्र मुनि॥

(२)

चुप्प भये जब गार्ग्य नृपति बोले—कहिये पुनि।
आगे ज्ञान न आपु कहें शरणागत लखि मुनि॥
भूप संग ले गये सुप्त इक पुरुष जगायो।
हिता नाड़ि में सुप्त पुरुष चित यों समुझायो॥
प्रज्ञाआत्मा प्रान यह, इन्द्रिनि भोगें देह में।
इन्द्रिय भोगें जाइ जिह, नित्य निरञ्जन गेह में॥

इति कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
सार समाप्त

वृहज्जाबालोपनिषद्-सार

[२६२]

ॐ अपो वा इदमासीत् सलिलमेव । स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत् तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत इदं सृजेयमिति ॥*

(वृ० जा० उ० प्र० ब्रा १ म)

छप्पय

फेरि वृहज्जाबाल उपनिषद् शैव कहाई।
श्रीकालाग्नीरुद्र भुसुण्डहु के प्रति गाई॥
प्रथम भस्म इस्नान विभूती योग कहायो।
विधि बनाइवे भस्म लगावें कस समुझायो॥
पुनि त्रिपुण्ड महिमा कही, कहँ त्रिपुण्ड धारन करैं।
भस्मोद् धूलित देह कस, सबई पापनिकूँ हरैं॥

भगवान् तो एक हैं, वे ही बहुत रूपों में हो गये हैं। जहाँ भी भगवत् बुद्धि करो, वहीं भगवान् प्रकट हो जाते हैं, क्योंकि वे सर्वव्यापक हैं। जैसे अग्नि सर्वत्र है, जहाँ भी रगड करो वहीं अग्नि प्रज्वलित हो जायगी। उस अग्नि को आप वैश्वानर कहे,

---

* सबसे पहिले सृष्टि के पूर्व अप सलिल ही था, एक ये प्रजापति कमल पत्र पर सर्वप्रथम प्रकट हुए। उनके अन्त करण मे यह हुई कि इस जगत् की मैं सृष्टि करूँ।

वह्नि कहें, जातावेदा, कृष्णवर्त्मा, पावक, अनल, शिखी, हिरण्य-रेता, हव्यभुक्, विभावसु, शुचि तथा अग्नि किसी भी नाम से पुकारें बोध अग्नि का ही होगा। इसी प्रकार उन भगवान् को शिव कहो, शक्ति कहो, विष्णु कहो, सूर्य गणपति कुछ भी कहो बोध उन परब्रह्म परमात्मा का ही होगा। जो जिस देव का उपासक होता है, वह उसी देव के चिन्हों को धारण करता है और उन्हीं की महिमा का गान करता है, उन्हीं को सर्वश्रेष्ठ समझने का तात्पर्य यह तो नहीं है, कि और सब हेय हैं, निन्दनीय हैं, त्याज्य हैं, जिसकी जिसमें श्रद्धा हो, उसका भजन करे, उसके ही चिन्हों को धारण करे। मेरी तो इसमें श्रद्धा है और मेरी दृष्टि में यही सबसे श्रेष्ठ भी है। इसलिये भगवत् स्वरूप भगवन्नाम सब एक ही हैं। अपने इष्ट में निष्ठा रखते हुए सबका आदर करे, किसी की निन्दा न करे, क्योंकि सत् वस्तु एक है उसे विद्वान् बहुत प्रकार से कहते हैं। सहस्रों नामों से पुकारते हैं, सहस्रों रूपों से उसकी स्तुति करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं बृहज्जाबाल उपनिषद् सार आप सबको सुनाऊँगा। यह शिव सम्बन्धी शैव उपनिषद् है, यह अथर्ववेद की उपनिषद् है. यह आठ ब्राह्मणों में विभक्त है। पहिले ब्राह्मण में संक्षेप में सृष्टि का वर्णन है। इस सृष्टि के पूर्व केवल अप जल ही जल था। भगवान की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ। उस कमलपर्ण से प्रजापति पैदा हुए। तदनन्तर तपस्या करके वे ही भुसुण्ड कालाग्नि रुद्र के पास गये और उन्होंने विभूति के माहात्म्य के सम्बन्ध में प्रश्न किये और कहा—"मुझे बृहज्जाबाल नामक मुक्ति श्रुति का उपदेश करें।" कालाग्नि रुद्र ने बताया-विभूति के पाँच नाम हैं—(१) विभूति, (२) भसित, (३) भस्म, (४) क्षार, और (५) रक्षा। इन पाँचों की

उत्पत्ति पंचभूतों से हुई है। सद्योजात जो रुद्र हैं इनसे पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। उससे निवृत्ति हुई। उससे कपिल वर्णा नन्दा गौ हुई। उसके गोबर से बनी राख का नाम विभूति है।

इसी प्रकार वामदेव से जल की उत्पत्ति हुई। उससे प्रतिष्ठा की, उस प्रतिष्ठा से काले वर्ण की भद्रा नामक गौ हुई, उसके गोबर से जो राख बनी उसी का नाम 'भसित' हुआ।

अघोर नामक रुद्र से अग्नि की उत्पत्ति हुई, अग्नि से विद्या और उस विद्या से लालवर्ण की सुरभि नामक गौ उत्पन्न हुई। उसके गोबर की राख को 'भस्म' कहते हैं।

तत्पुरुष नामक रुद्र से वायु की उत्पत्ति हुई, वायु से शान्ति हुई। शान्ति से श्वेतवर्ण की सुशीला नामक गौ हुई। उसके गोबर की राख को "क्षार" कहते हैं।

ईशान नामक रुद्र से आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से शान्ति अतीता, उससे चित्रवर्णा सुमना गौ हुई, उसके गोबर की राख का नाम 'रक्षा' है। इस प्रकार पाँच नाम भस्म के हैं। भस्म लगाने से ऐश्वर्य बढ़ता है। इसीलिये उसका नाम 'विभूति' है, सम्पूर्ण पापों को भस्म कर देती है इसलिये 'भस्म'। प्रकाशित करने से 'भसित'। आपत्तियों को क्षार करने से "क्षार" और भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, अपस्मार तथा संसार भर की भीतियों से रक्षा करने के कारण भस्म का नाम रक्षा है। इस प्रकार प्रथम ब्राह्मण में भस्म की उत्पत्ति का वर्णन है।

दूसरे ब्राह्मण में भुसुण्ड ने कालाग्नि रुद्र से अग्नि षोमात्मक जो यह भस्म है उसके स्नान का विधि पूछी, इस पर कालाग्निरुद्र ने भस्म को अग्नि के सदृश सर्वव्यापी बताया। इस भस्म को अग्निषोमात्मक इसलिये कहा गया कि रौद्री होने से इसका घोरा तैजस तनु है। भस्म को अनेको प्रकार से बताकर इसे

और शक्तिमय सिद्ध किया गया है। यह जगत् अग्नि से एक बार दग्धहोने पर भस्म सात हो जाता है। यह अग्नि का वीर्य ही जगत् है, उसका वीर्य यह भस्म है। सबके अन्त में भस्म ही अवशेष रहती है। इस प्रकार जो भस्म के सद्भाव को जानकर भस्म स्नान करता है, उसके समस्त पाप दग्ध हो जाते हैं। इस भस्म का नाम मृत्युंजय है, यह निरन्तर अमृत बरसाने वाली है। शिव शक्तियुक्त अमृत के स्पर्श से जिसने स्नान कर लिया, तो ऐसी भस्म के स्पर्श से फिर मृत्यु कैसे हो सकती है? जो अग्नि सोम से संपुटित भस्म को धारण करता है उसका फिर जन्म नहीं होता। इस प्रकार दूसरे ब्राह्मण में भस्म स्नान की महिमा बताई गयी है।

तीसरे ब्राह्मण में भस्म निर्माण की विधि बतायी है। भस्म के लिये कैसी गौ का गोबर न ले। इस पर बताया है, जो बिकटाङ्ग हो, जो उन्मत्त, मरखनी, मैली कुचैली, अशुभ चिन्हों से युक्त, दुबली, बछड़ा से रहित, दूध न देने वाली, अत्यन्त बूढ़ी, जो केश, कपड़ा, हड्डी आदि अशुद्ध वस्तु खाने वाली, नई व्याही तथा रोगिणी गाय हो इनका गोबर भस्म के लिये नहीं ले, जो सुन्दर प्रशस्त शुभ हो उसका गोबर ले। गोबर भूमि पर न गिरने पावे ऊपर ही ले ले। कपिला, धवला श्रेष्ठ है न मिले तो दोषवर्जित किसी भी रंग की गौ का गोबर ले ले। संस्कार रहित भस्म को धारण न करे। क्योंकि धेनु तीन गुणों वाली वेद स्वरूपा है, उसको त्रयी विद्या ही गोमय है। मूत्र उपनिषद् हैं। उस गोबर मूत्र को मिलाकर संस्कार करके विधिपूर्वक भस्म धारण करे। स्मृति हो उस वेदमयी गौ का बछड़ा है। उसके द्वारा जो गोमय है उसी की भस्म परम पवित्र है।

'आगाव' इत्यादि मन्त्र से गौ को अभिमन्त्रित करे। 'गावो

भगो' इत्यादि मन्त्र से जल को गौ को पिलावे। कृष्णपक्ष या शुक्लपक्ष चतुर्दशी को उपवास करे, दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर पवित्र होकर स्नान करके वस्त्र पहिन आधा दूध तो गौ का दुहले, आधा बछड़े को छोड़ दे। फिर उठकर गायत्री मन्त्र से सोने, चाँदी, तावें या मिट्टी के बर्तन में गौ का मूत्र लावे, 'गन्ध द्वारां दुराधर्षां' इस मन्त्र से पृथ्वी पर नीचे न गिरने पावे, पात्र में गोबर को ले ले। फिर उस गोबर में कीड़ा हों, अन्न के दाने हों उन्हें "श्रीर्मेभजतु" इत्यादि मन्त्र से शोधन करे। 'अलक्ष्मीर्मे' इस मन्त्र से गोबर को धान्य वर्जित करे। 'संत्वा सिञ्चाभि' इत्यादि मन्त्र से गोबर में गोमूत्र को मिलावे। फिर 'पञ्चानां' आदि मन्त्र से चौदह पिंड बनावे। फिर उन्हे सूर्य की किरणों से सुखा ले।

जब सूख जायें तब उसी पात्र में उन गोबर के पिंडों को ले आवे। अपने गृह्योक्त विधान अग्नि की स्थापना करे। फिर षडाऽक्षर मन्त्र से आदि अन्त में प्रणव लगाकर स्वाहा कहकर उन पिंडों को वर्णदेव के लिये अग्नि मे हवन करे। फिर आधार और आज्य भाग के जो सात मन्त्र हैं। उनसे आहुति देकर फिर निधन पति को तेईस आहुति दे। 'नमो हिरण्यबाहवे' इससे पाँच ब्रह्म को आहुति दे। ये सब आहुतियाँ चतुर्थ्यन्त मन्त्रों से स्वाहा सहित दे। ऋतं सत्यं कद्रुद्राय यस्य वैकंकतीति इनसे विद्वान् ज्ञातत्रय का हवन करे। फिर व्याहृतियों से हवन करके 'इदंनमम' ऐसा कहकर स्विष्टकृत हवन करे। जब सब हवनकुंड की समिधायें जल जायें तब पूर्णपात्र का जल लेकर 'पूर्णमसि' इत्यादि मन्त्र से अन्य जल से उसे बढ़ावे। 'ब्राह्मणोसि अमृतम्' इति, मन्त्र से शिर पर छिड़के। फिर 'प्राच्यामि' इत्यादि मंत्र से दिशाओं में उस जल को छिड़के।

श्री र शांति को प्राप्त हो। फिर उन जले हुए गोमय
दक्षिणा देक रक करे। 'आहरिष्यामि' इस मन्त्र से गोमय पिंडों
पिंडों को पु तक आच्छादित रखे। फिर भक्ति पूर्वक ब्राह्मणों
को तीन दि रावे। फिर मौन होकर स्वयं भी भोजन करे। यह
को भोजन पिण्डों की भस्म का विधान है। जिसे अधिक भस्म
तो चौदह अधिक गोबर लेकर हवन करे। तीसरे चौथे या एक
बनानी हो, पश्चात् प्रातः स्नान करके सफेद वस्त्र सफेद जनेऊ
ही दिन के न धारण करके 'ॐ तद् ब्रह्मेति' इस मन्त्र से
सफेद चन्द स्म से उन्हें पृथक् करके पात्र में भर ले। फिर उसकी
अग्नि की र्प से पूजा करे। व्याहृतियों से उसे अग्नि में से लेय।
षोडशोपचा स्मेति' इस मन्त्र से उत्तर भस्म को ग्रहण करे। 'अग्नि-
'अग्नि न्त्र से फिर उन पिंडों को पात्र में मसले। मसलकर
रित्यादि' म बनाले, फिर सुगन्धित जल, कपिला गौ का गोमूत्र,
उनकी भ म केशर, खस, चन्दन, तीनों तरह के गुग्गुल
चन्द्रकुंकुम, चूर्ण करके उसमें मिला दे। गायत्री मन्त्र से उसमें ये
इन सबका मिलावे। फिर प्रणव से उसके गोला बनाले अथवा
सब वस्तुयें यान्' इस मन्त्र से। इस प्रकार प्रणव से उसे घिसकर
"अणोरणी से अभिमन्त्रित करके शरीर के अंगों में लगावे।
सात प्रणव नेति' मंत्र से शिर में मुख में, तत् पुरुष से अघोर से
'ईशान वाम मंत्र से गुह्य में, सद्योजात से पैरों में तथा प्रणव
ऊरुदेश में, अंगों में लगावे। इस प्रकार आपदतल मस्तक में भस्म
से सम्पूर्ण र आचमन करके वस्त्रों को धारण करे। फिर आचमन
को लगाक ने कृत्यों को करे।
करके अप के चार कल्प बताये हैं। १—अनुकल्प, २—उपकल्प,
भस्म कल्प और ४—अकल्प। अनुकल्प तो उसे कहते हैं
३—उपोप अग्निहोत्र से विरजा नामक अग्नि से उत्पन्न हो। वन
जो भस्म।

में सूखे आरण्यकंडों से ग्रहण करके पीछे बतायी विधि से तैयार की जाय उस भस्म को उपकल्प कहते हैं। वन में आरण्यककंडों को इकट्ठा करके उनका चूर्ण करके उसे गोमूत्र में सानकर उसके पिंडों को पूर्वोक्त विधि से हवन करके जो भस्म बनायी जाती है उसे उपोपकल्प कहते हैं। शिवालयस्थ जो भस्म है उसे अकल्प शतकल्प कहते हैं। इस प्रकार की ये चारों प्रकार की भस्म धारण करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान् कालाग्नि रुद्र ने कहा है। यहाँ पर तीसरा ब्राह्मण समाप्त हुआ।

अब चतुर्थ ब्राह्मण में भुसुण्ड ने भगवान् कालाग्नि रुद्र से भस्म स्नान की विधि पूछी। इस पर कालाग्नि रुद्र ने बताया—भस्म को लेकर प्रणव से तो उसे मीडे। सात प्रणवों द्वारा अभिमंत्रित करे। उसी आगम द्वारा दिग्बन्ध करे, फिर उसी अस्त्र-मंत्र द्वारा अगों में मूर्द्धा से लगावे, फिर 'ईशान' इत्यादि से शिर में, तत्पुरुष से मुख में, अघोर से उरुदेश में, वामदेव से गुह्य में, सद्योजात से पैरों में और प्रणव से सर्वाङ्गों में भस्म लगावे। फिर पैर से लेकर मस्तक सर्वाङ्ग में भस्म लगावे। फिर शरीर को झाड़कर आचमन करके सफेद वस्त्र धारण करे इसी को विधि भस्म स्नान कहते हैं

इस विषय में कहा गया है मुट्ठी में भस्म लेकर संहिता मंत्र द्वारा अभिमंत्रित करके मस्तक से पाद पर्यन्त मल स्नान कहा गया है। उसी मंत्र से विधि स्नान भी करे। शिर में ईशान से पाँच बार, चतुर्थ वक्र से मुख में चार बार, अघोर से हृदय में आठ बार, गुह्य प्रदेश के तेरह स्थानों में वामन से तेरह बार, आठ बार अन्त साध्य से पैरों में यत्नपूर्वक भस्म लगावे। "राजन्यस्य' से सर्वाङ्ग में भस्म धारण करे। फिर किस समय किस २ को छूकर भस्म न लगानी चाहिये इसका वर्णन है।

फिर भुसुण्ड ने कालाग्नि रुद्र से त्रिपुण्ड लगाने की विधि पूछी। इस पर कालाग्नि रुद्र ने बताया कि ब्रह्मा, विष्णु शिवात्मक त्रिपुण्ड् को मध्य की तीन उँगलियों से मूलमंत्र द्वारा त्रिपुण्ड् लगाना चाहिये। अथवा अनामिका मध्यमा और अगूठा से लगाते। त्रिपुण्ड् ३२. १६, ८ अथवा ५ ही स्थानों में लगावे। इन स्थानों के मंत्रादि बताकर अंत में पाँच स्थान १—मस्तक २-३ —दोनों बाहुओं में, ४—हृदय और ५—नाभि इन स्थानों में त्रिपुण्ड्र धारण करे। फिर किस स्थान में त्रिपुण्ड्र धारण करने से क्या फल है, किस मंत्र से कहाँ, त्रिपुण्ड्र लगावे इसे बता कर अन्त में कहा है त्रिदेव, तीनों अग्नि, तीनों गुण तथा तीनों लोकों के धारण करने का फल त्रिपुण्ड्र धारण करने से होता है। इस प्रकार यहाँ चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त होता है।

पंचम ब्राह्मण में फिर भस्म धारण की विधि बतायी है। द्विजों को अग्निहोत्र की भस्म धारण करनी चाहिये। गृहस्थों और महर्षियों को विरजानल भस्म धारण करना मुख्य है, ब्रह्मचारी को समिधा अग्नि से उत्पन्न भस्म को धारण करना चाहिये। शूद्रों को श्रोत्रिय ब्राह्मणों के घर की पचनाग्नि भस्म धारण करनी चाहिये। और सबको अग्नि की भस्म को धारण करना चाहिये। जो वर्णाश्रम से अतीत पर महेश हैं, उन्हें श्मशान की भस्म धारण करनी चाहिये। जो शिवयोगी हैं, उन्हें शिवालय की अग्नि 'धूनी' की भस्म धारण करनी चाहिये। भस्म और त्रिपुण्ड् के सम्बन्ध में श्लोक हैं, उनका भाव यह है कि— जिस विप्र ने सिर पर भस्म और त्रिपुण्ड् धारण कर लिया है उसने सब कुछ पढ़ लिया, सब वेद पढ़ लिये, सब अनुष्ठान कर लिये। जिस द्विज ने भले ही वर्ण और आश्रम का आचार त्याग दिया हो, जिसकी सभी क्रियायें लुप्त हो गयी हों, यदि उसने एक

भी त्रिपुण्ड धारण कर लिया है तो वह भी पूजनीय हो जाता है। जो भस्म धारण किये बिना कर्म करते हैं, उनकी कोटि जन्मों में भी संसार से मुक्ति नहीं हो सकती। जो त्रिपुण्ड, भस्म से द्वेष करते हैं, जो भस्म को देखकर क्रोध करते हैं वे वर्ण-संकर हैं। जो त्रिपुण्ड भस्म करने वाले का ताड़न करते हैं, क्रोध करते हैं। शिव की निंदा करते हैं ये सब घोर पापी हैं नरकगामी हैं। भस्म धारण करने से समस्त पाप भस्म हो जाते हैं। अतः जिनका शरीर भस्म से संदिग्ध है। भस्म सहित त्रिपुण्ड मस्तक पर लगा है, भस्म में शयन करते हैं, उनको भस्मनिष्ठ कहते हैं। यहाँ पंचम ब्राह्मण समाप्त होता है।

छठे ब्राह्मण में भुसुण्ड के पूछने पर कालाग्नि रुद्र ने नाम-पंचक का माहात्म्य बताते हुए भस्म की महिमा बतायी है। एक धनञ्जय नाम का वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण था, उसके सौ पत्नियाँ थीं। उनमें सबसे बड़ी भार्या का पुत्र करुण हुआ। उसकी स्त्री का नाम शुचिस्मिता था। अपने भाइयों के वैर को सहन न करके करुण घर से भवानी तट के नृसिंह मन्दिर में गया। वहाँ किसी ने देवता को चढ़ाने केलिए जम्बीरी नींबू रखा था। इसने जाकर उस असमर्पित फल को सूँघ लिया। तो वहाँ के पूजक ने शाप दिया—यह तैंने मक्खी का काम किया है, अतः तू सौ वर्षों तक मक्खी हो जा। उसने अपनी स्त्री से जाकर सब वृत्तान्त सुनाया और कहा—"शुचिस्मिते! मेरी रक्षा करो।" ऐसा कहकर वह मर गया और मरकर मक्खी हो गया।

शुचिस्मिता मृतक पति की देह को तैल द्रोणी में रखकर उसे लेकर वसिष्ठ पत्नी अरुन्धती के समीप गयी। अरुन्धती ने कहा—मैं इसे जीवित कर दूँगी, ऐसा कहकर

की भस्म को लेकर उसने पुनः कहा—"यह अग्निहोत्र की

कहा—"हे शम्भो ! आपके चरणों में मेरी भक्ति हो, जो कोई भस्म धारण करेंगे वे मेरे भक्त होंगे।"

इस प्रकार भस्म की महिमा कहकर फिर इस बृहज्जाबाल उपनिषद का माहात्म्य बताया है। इस प्रकार छटा ब्राह्मण समाप्त हुआ। अब सातवें में जनक याज्ञवल्क्यजी सम्वाद है। राजा ने याज्ञवल्क्यजी से त्रिपुण्ड्र का माहात्म्य पूछा, तब मुनि ने बताया—कि पहिले अमुक विधि से भस्म धारण करे। तब राजा ने भस्म धारण का फल पूछा—तब ऋषि ने कहा—"भस्म धारण करने से मुक्ति होती है। संवर्तक, आरुणि, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ आदि परमहंस विभूति धारण से ही मुक्त हो गये।" फिर राजा ने भस्म स्नान का माहात्म्य पूछा। उसे भी बताकर एक कथा कही।

एक बार जनक पिप्पलाद के पुत्र के साथ ब्रह्मलोक में गये। वहाँ ब्रह्माजी ने कहा—"जो शिवजी की महिमा है वही त्रिपुण्ड्र की महिमा है। जब पैप्पलाद ने विष्णु लोक में जाकर त्रिपुण्ड्र माहात्म्य पूछा तो भगवान् विष्णु ने भी यही बात कही। तब वे भगवान् कालाग्निरुद्र के पास आये। उन्होंने कहा—मैं तो त्रिपुड़ की विधि माहात्म्य कहने में समर्थ ही नहीं। जो त्रिपुण्ड्र धारण करता है वह मुक्त हो जाता है। यह त्रिपुण्ड्र-त्रिदेवमय है।

फिर रुद्राक्ष का माहात्म्य बताते हुए सनत्कुमार और कालाग्नि रुद्र सम्वाद बताया है। सनत्कुमारजी के पूछने पर कालाग्निरुद्र ने बताया-रुद्र के नेत्र से उत्पन्न होने के कारण इसे रुद्राक्ष कहते हैं। जो रुद्राक्ष वाणी से बोलता है उसे दश गौ दान का, जो हाथ में धारण करता है उसे दो सहस्र गौदान का, कान में एकादश सहस्र, शिर में धारण करने से कोटि गौदान

नृसिंह पूर्वतापनीय-उपनिषद्-सार

[२६३]

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरै रंगैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ॥*

(शान्तिपाठ)

छप्पय

श्रीनृसिंह उपनिषद् तापिनी पूर्व-सार सुनि ।
सलिल प्रथम ही रह्यो प्रजापति भये तासु मुनि ॥
तिनि तप करि नरसिंह मन्त्रराजहिँ पुनि देख्यो ।
छन्द अनुष्टुप माहिँ अङ्ग सहन्यासहु पेख्यो ॥
शक्ति बीज के सहित जो, अङ्गभूत मन्त्रनि सहित ।
प्रणववाच्य नरसिंह के, चार पाद बरनन करत ॥

---

* हे देवगण ! हम भजन करने वाले कानो से भद्र वचनों को ही सुनें, आँखो से भद्र को ही देखें । स्थिर अङ्गो और देह से स्तुति करें । हमारी जो आयु देवताओ के हित में आवे उसका हम भली-भाँति सदुपयोग करे ।

जिन इन्द्र का यश सर्वत्र फैला है, वे हमारे लिये कल्याण पोषण करें । विश्वदेवा और पूषा भी हमारे लिये कल्याण पोषण करें । अरिष्टनेमि जो तार्क्ष्य—गरुडजी हैं वे भी स्वस्ति करें और बृहस्पतिजी भी स्वस्ति करें ।

कई उपनिषदों में सर्वप्रथम सृष्टि का वर्णन करके प्रजापति ब्रह्माजी की उत्पत्ति का वर्णन करके उन प्रजापति को ही ज्ञान प्रकाशक बताया गया है, क्योंकि चारों वेदों का प्रकाश ब्रह्माजी के मुख से हुआ है। अतः उपनिषदों की भूमिका सृष्टि से ही बाँधते हैं—

सृष्टि से पूर्व सलिल ही था-सर्वत्र जलराशि भरी थी। उस जल में कमलपत्र पर ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। यहाँ कमलपत्र उपलक्षणमात्र है। अर्थात् ब्रह्माजी कमल से हुए। उनके अन्तःकरण में यह कामना उत्पन्न हुई कि मैं इस जगत् को उत्पन्न करूँ, क्योंकि यह प्रसिद्ध बात है, कि मनुष्य जो मन से सोचता है, उसे ही वाणी द्वारा बोलता है और उसे ही कार्य रूप में परिणत करता है।

इस सम्बन्ध में एक वेद की ऋचा का उद्धरण दिया जाता है। उसका भाव यह है—जब सृष्टि होने को होती है, तो पहिले मन से काम की उत्पत्ति होती है। जो जल सृष्टि से पूर्व विद्यमान था, वही जल सृष्टि का कारण है। ज्ञानी पुरुष काम को सत्स्वरूप आत्मा का बन्धन समझते हैं। उनके मत में असत् का जो कार्यभूत मन है उसी में काम उत्पन्न हुआ करता है। अर्थात् काम या इच्छा प्राकृत है। जो इस बात को जानता है उसकी कोई कामना विफल नहीं हुआ करती।" यह एक प्रकार की कई उपनिषदों की भूमिका है। इतना कहकर वे अपने मुख्य विषय का वर्णन करते हैं। इससे पूर्व बृहज्जाबालोपनिषद् थी उसमें भी कुछ शब्दों के हेर-फेर से यही भूमिका थी और इस नृसिंहपूर्वतापनी में ही प्रायः इसी भाँति सृष्टि क्रम बताकर ब्रह्माजी द्वारा मन्त्रराज की उत्पत्ति का वर्णन किया है।

सूतजी कहते हैं—"अब मैं नृसिंह पूर्वतापनीय उपनिषद्

का सार सुनाता हूँ। यह उपनिषद् अथर्ववेदीय है। 'भद्रं कर्णेभिः' इत्यादि इसके शान्ति पाठ हैं। यह आठ अध्यायों में समाप्त है। प्रथम अध्याय में पाँच उपनिषद् हैं।

प्रथम अध्याय की प्रथम उपनिषद् में ब्रह्माजी की उत्पत्ति बताकर उनके तप का वर्णन है। तपस्या द्वारा नारसिंह मन्त्रराज का साक्षात्कार किया। यह मन्त्रराज अनुष्टुप छन्द में होने से आनुष्टुभ भी कहलाता है। इसी मन्त्र के प्रभाव से उन्होंने इस चराचर जगत् की रचना की। इस मन्त्र के ही कारण सब उत्पन्न होकर इसी में रहते हैं। अनुष्टुप छन्द सब छन्दों में श्रेष्ठ है।

इस मन्त्रराज साम का प्रथम चरण समस्त पृथ्वी है, द्वितीय चरण अन्तरिक्ष, स्वर्गलोक इसका तृतीय चरण है और निरमल, निरञ्जन, विशुद्ध परमव्योम ब्रह्मतत्त्व है, इसे इसका चतुर्थ चरण मानें। चारों शाखाओं सहित वेद इसके चार पैर हैं। इस मन्त्र के ध्यान, देवता, अङ्ग, छन्द, ऋषि तथा देवगणों को बताकर इस मन्त्र को परमगुप्त कहा है, इसे सब किसी को न दे। इस मन्त्र के उग्र, वीर, महाविष्णु, ज्वलन्त, सर्वतोमुख, नृसिंह, भीषण, भद्र, मृत्यु-मृत्यु इन द्वितीयान्त पदों का और अन्त में नमामि और अहम् इन शब्दों को अनुष्टुप छन्द के चार भागों में विभक्त करके व्याख्या की गयी है। फिर इस मन्त्रराज की उपासना का फल बताया है। यहाँ प्रथम अध्याय की प्रथम उपनिषद् समाप्त हुई।

द्वितीय उपनिषद् में इस मन्त्रराज की शरण लेने से प्राणी संसार को तर जाता है, इस बात को बताते हुए एक कथा सुनायी है। एक बार सभी देवों को मृत्यु, पाप और संसार से भय हुआ। वे भयभीत होकर ब्रह्माजी की शरण में गये। ब्रह्माजी ने

उन्हें इसी मन्त्रराज आनुष्टुभ मन्त्र का उपदेश दिया, इससे वे सब भयरहित हो गये। अतः जो भी इस मन्त्रराज की शरण लेता है वह मृत्यु, पाप और संसार से तर जाता है।

इस मन्त्र में सर्वप्रथम प्रणव है। प्रणव की अ, उ, म् और अर्ध मात्रा ये चार मात्रायें हैं। ये चार मात्रायें ही भू, भुव, स्व और सोम चार लोक, चार वेद, ब्रह्मा, विष्णु, महेश और प्रणव चार देव, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और विराट् चार छन्द तथा चार अग्नियाँ हैं। यह तो प्रणव की चार मात्राओं की व्याख्या हुई। यह मन्त्र अनुप् छन्दों में है इसलिये इसके अङ्गन्यास और इसके बत्तीस अक्षरों में प्रणव लगाकर शिखा से लेकर पैर पर्यन्त बत्तीस अङ्गों में करन्यास करे।

अब देवताओं ने इस मन्त्रराज के उग्र, वीर, महाविष्णु, जलन्त, सर्वतोमुख, नृसिंह, भीषण, भद्र, मृत्युमृत्यु, नमामि और अहम् इन प्रत्येक शब्द की व्याख्या पूछी, इनका क्या अर्थ है। तब ब्रह्माजी ने मन्त्र के प्रत्येक पद की शास्त्रीय व्याख्या करके उन देवताओं को समझाया इस महोपनिषद् के अर्थ को जो जानता है वही उपासक है। यहाँ प्रथम अध्याय की द्वितीय उपनिषद् समाप्त होती है।

तृतीय उपनिषद् में इस आनुष्टुभ नृसिंह मन्त्रराज की शक्ति का और बीज का वर्णन है। विष्णु की शक्ति श्रीदेवी, नृसिंह शक्ति लक्ष्मी, शिव शक्ति अम्बिका, ब्रह्मा शक्ति सरस्वती, स्कन्द शक्ति षष्ठी, इन्द्र शक्ति इन्द्रसेना, ब्रह्म शक्ति विद्या इनको मन्त्रराज की शक्ति बताकर इनसे उपासक द्वारा रक्षा की प्रार्थना की गयी है। आकाश स्वरूप स्वयम्प्रकाश पुरुषोत्तम हैं। वे ही इस मन्त्रराज के बीज भूत हैं। इस प्रकार मन्त्रराज की शक्ति और बीज का वर्णन करके तृतीय उपनिषद् समाप्त की है।

अब चतुर्थ उपनिषद् में देवताओं के पूछने पर प्रजापति ने मन्त्रराज आनुष्टुभ के अङ्गभूत मन्त्रों का वर्णन किया है। फिर चार पादों की व्याख्या की है। फिर लक्ष्मी गायत्री, नृसिंह गायत्री को बताकर मन्त्रराज में जो ३२ अक्षर हैं, उन सबमें पहिले प्रणव लगाकर उस अक्षर को द्वितीयान्त बनाकर पुनः प्रणव लगाकर यः ह वै नृसिंहः के आगे देवः और भगवान्यश्च ब्रह्मा और भूर्भुवः स्वः लगाकर तस्मै वै नमो नमः। ऐसे ३२ मन्त्र बनाये हैं। ये ३२ मन्त्र ही मन्त्रराज आनुष्टुभ के अङ्गभूत मन्त्र हैं। ये ही प्रणव वाच्य भगवान् नृसिंह के चार पादरूप हैं। इन बत्तीस अक्षरों वाले बत्तीस मन्त्रों से प्रतिदिन ब्रह्माजी ने भगवान् नृसिंह का स्तवन करने की आज्ञा दी है। इन मन्त्रों से स्तुति करने वाले को नृसिंह भगवान् के विश्वरूप के दर्शन हो जाते हैं और उसे अमृतत्व की प्राप्ति होती है। यहाँ प्रथम अध्याय की चतुर्थ उपनिषद् समाप्त होती है।

अब पञ्चम उपनिषद् में नारसिंह मन्त्रराज के सुदर्शन नामक महाचक्र का विस्तार से वर्णन किया गया है और अन्त में इस महामन्त्र का जो साधक जप करता है उसे परमपद की प्राप्ति होती है ऐसा कहकर ब्रह्माजी ने देवताओं को जप करने का परम फल बताया है। जो इसका जप करता है वह अग्निपूत, वायुपूत, आदित्यपूत, सोमपूत, सत्यपूत, ब्रह्मपूत, विष्णुपूत, रुद्रपूत, वेद-पूत तथा सर्वपूत हो जाता है। यहाँ आकर पञ्चम उपनिषद् और प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

अब द्वितीय अध्याय में मन्त्र जप करने वाला मृत्यु, पाप, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, वीरहत्या, सर्वहत्या और जन्म-मृत्यु सबको पार कर जाता है, ऐसा माहात्म्य बताकर द्वितीय
किया।

अब तृतीय अध्याय में भी मन्त्रराज को जप करने वाल वायु, सूर्य, चन्द्र, जल, सम्पूर्णदेव, सब ग्रहों की गति को रोक में विष को भी स्तम्भन करने में समर्थ होता है। ऐसा जप क माहात्म्य बताकर तीसरा अध्याय समाप्त किया।

अब चौथे अध्याय में मन्त्रराज का जप करने वाला देवता यक्ष, नाग, ग्रह, मनुष्य तथा सभी को आकर्षण कर लेता है। ऐसा जप का माहात्म्य बताकर चौथा अध्याय समाप्त किया।

अब पञ्चम अध्याय में इस मन्त्र का जापक सातों लोकों को जीत लेता है यह बताया, छटे अध्याय में सब यज्ञों का फल पाता है, इसे बताया, सातवें अध्याय में इस मन्त्र का जापक शाखाओं सहित चारों वेदों के, इतिहास, पुराण, गाथा तथा प्रणवादि सभी के अध्ययन का फल पा लेता है। आठवें अध्याय में इस मन्त्र के जप करने का सबसे अधिक माहात्म्य है इसे अनेक उदाहरण देकर बताया गया है!

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार यह नृसिंह पूर्वतापनीय उपनिषद् आठ अध्यायों में समाप्त की है। यह उपासना सम्बन्धी उपनिषद् है। इसकी उपासना करनी हो तो इस अङ्गों के सम्बन्ध में, अंगन्यास, करन्यास, इनके चारों पादों के सम्बन्ध में तथा सुदर्शन महाचक्र के सम्बन्ध में मूल ग्रन्थ को सुयोग्य आचार्य से पढ़कर, उनसे नृसिंह मन्त्र की दीक्षा लेकर तब अनुष्ठान करना चाहिये। इस प्रकार मैंने यह बहुत ही संक्षेप में नृसिंह पूर्वतापनीय उपनिषद् का सार सुना दिया। अब आप नृसिंह उत्तरतापनीय उपनिषद् का सार श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

इस्तुति के कहि मन्त्र कहे बत्तीस अच्छरनि।
प्रति अच्छर द्वितीयांत प्रणव करि आदि अँतरनि॥
मन्त्रराज को महाचक्र जिहि नाम सुदरसन।
ताकी महिमा और करी विधि ताकी बरनन॥
फिर नरसिंह के मन्त्र के, जप की शुभ महिमा कही।
यों जिह उपनिषद सकल, प्रेम सहित पूरन भई॥

इति नृसिंह पूर्वतापनीय–उपनिषद्
सार-समाप्त

अनुज्ञा, और अविकल्प ये चार भेद बताये हैं। तीन पाद तो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं द्वारा उपलक्षित हैं, यह चौथा पाद जो तुरीय चौथी अवस्था कही गई है उसका इसी तुरीय में पर्यवसान होता है। इसके जो चार भेद कहे गये हैं। उनमें जो पहिले तीन ओत, अनुज्ञातृ और अनुज्ञा भेद हैं उनको भी सुषुप्ति स्वप्न के समान माया मात्र ही माने, चौथा जो अविकल्प अथवा निर्विशेष निर्विकल्प है। वही एक मात्र चिन्मय है अर्थात् चतुर्थपाद अचिन्त्य, अवाङ्मानसगोचर, अनिर्वचनीय है। इस प्रकार नृसिंह भगवान् के चार पाद बताकर पहिला खण्ड समाप्त किया गया है।

अब आया द्वितीय खण्ड। द्वितीय खण्ड जो नृसिंह भगवान के चार पाद बताये हैं उन प्रणव में जो अकार, उकार, मकार तथा अर्धमात्रा ये चार मात्रा हैं, इनके साथ भगवान् के चार पादों की एकता का वर्णन है। प्राप्य वस्तु तो चतुर्थपाद तुरीय ही है। उस भगवान् के चतुर्थपाद का ज्ञान नृसिंह भगवान् का जो आनुष्टुभ मन्त्रराज है। उसी के द्वारा सम्भव है। इसका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इस प्रकार मन्त्रराज की उपासना करने से साधक स्वयं ही नरों में सिंह अर्थात् नृसिंह रूप हो जाता है। अब आया तृतीय खंड।

तृतीय खण्ड में जो यह बत्तीस अक्षरों वाला चार पादों वाला भगवान् नृसिंह का जो मन्त्रराज है, जो अनुष्टुप छन्द में होने से आनुष्टुभ भी कहलाता है इसके चारों पादों के पृथक्-पृथक् जप का पृथक् पृथक् वर्णन है। जैसे प्रणव में चार मात्रायें हैं और इस मन्त्रराज में चार पाद हैं। चौथे पाद के जो ओत, अनुज्ञाता, अनुज्ञा और अविकल्प भेद हैं इनमें से तीन पादों की समता, वेदत्रयी, त्रिदेव, त्रिअग्नि, स्थूल, सूक्ष्म और बीज

तीन रूप, तीन लोक, तीन छन्दों के साथ तुलना करके अंतिम जो चौथा तुरीयपद है उसकी सोमलोक, अथर्ववेद, सवर्तक, अग्नि, मरुद्गण, विराट् छन्द्र, अग्नि, एक ऋषि, इनके साथ तुलना करके इन सबके ध्यान चिंतन की विधि बताकर अन्त मे राज का क्रम बताया है। जैसे सर्वव्यापक आत्मा है, उसके तेजोमय रूप मे चिंतन करे। फिर उसके गुण जो स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व और साक्षित्व हैं उनकी परमात्मा के चारों पादों में तथा ओंकार का चारों मात्राओं में एकता स्थापित करे। जैसे महास्थूल को महासूक्ष्म में लीन करे, फिर महासूक्ष्म को महाकारण में लीन करे। फिर अकार (विराट्‌रूप) उकार (हिरण्यगर्भरूप) मकार (ईश्वर रूप) इनको एक दूसरे में लीन करता हुआ अन्त में सभी तीनों को तुरीयपद है उसमें लीन कर दे। फिर चतुर्थपाद के जो ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प चार भेद बताये थे,इन तीनों को भी अंतिम अविकल्प या निर्विकल्प में लीन कर सबका उपसंहार करे। इस प्रकार मन्त्र के चारों पादों को प्रणव के चारों अक्षरों से समता करके पृथक् पृथक् पद के जप को तथा ध्यान की विधि बता कर तीसरा खड समाप्त किया है।

अब चतुर्थ खण्ड मे अपनी आत्मा के रूप से नृसिंह भगवान् के चिन्तन की विधि बतायी है। महामन्त्र के जो वाक्य हैं उनका ध्यान के समय कैसे उच्चारण करे। इसके अनेक मन्त्र बताकर अन्त में अपनी आत्मा को पहिले तुरीय रूप से चिन्तन करे इसकी विधि बताकर पीछे उसे भगवान् नृसिंह रूप मे कैसे ध्यान करे और अन्त में अपने आपको परब्रह्म के साथ कैसे एकीभूत करे इसकी विधि बतायी गयी है।

पचम खण्ड में पहिले यह बताया गया है, कि यह मन्त्रराज अनुष्टुप् छन्द में है, तो इस अनुष्टुप् छन्द को प्रणव की चार

मात्राओं में अन्तर्भाव कर दे। अनुष्टुप् का ओंकार में अन्तर्भाव कैसे किया जाता है, पहिले तो प्रत्येक मात्रा के साथ मन्त्र राज के प्रत्येक पद का भाव बताकर उसमें उसे लीन करना बताया है। इस प्रकार मन्त्रराज का प्रत्येक पद प्रणव में लीन होकर वह नृसिंह देव स्वरूप परब्रह्म ही हो जाता है। ब्रह्म स्वरूप होकर साधक ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार परमात्मा के चिन्तन की विधि बतायी है।

अब छटे खण्ड में देवताओं ने अपने आपको प्रणव का वाच्यार्थ मानकर अपने को परब्रह्म में कैसे लीन कर दिया इसकी विधि बतायी है। अन्त में कहा है। शृङ्गेषु शृङ्गं संयोज्य-अर्थात् प्रणव की जो अकार उकार और मकार ये तीन मात्रायें हैं उनमें तुरीय परमात्मा का संयोग करके सिंह को अर्थात् मन्त्रराज को प्रणव की मात्राओं में नियुक्त करे। फिर प्रणव की जो अकार उकार दो मात्रायें हैं उन्हें प्रणव की एकमात्रा मकार में आबद्ध करे। तीनों मात्राओं की एकता का बोध चिन्तन करके तीनों प्रकार के देवता उच्चस्थिति प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार प्रणव के वाच्यार्थ अपने आपको परब्रह्म में विलीन करने की विधि बतायी है।

फिर सातवें खण्ड में आत्मा तथा परमात्मा में किस प्रकार एकता का अनुभव करके उसका चिन्तन करे इसकी विधि बतायी गयी है। अन्त में एक श्लोक में इस खण्ड का इस प्रकार सार कह दिया है। प्रणव की जो पहिली मात्रा शृङ्ग-अकार है उसे शृङ्गार्ध-द्वितीय मात्रा उकार के पूर्वार्ध-ब्रह्म के प्रति आकृष्ट करके-शृङ्गेणयोजयेन्-अर्थात् मकार के साथ संयुक्त करे-अर्थात् ब्रह्म और आत्मा की एकता का चिन्तन करे। प्रणवस्य अकार के अर्थरूप आत्मा को-परे शृङ्गे-मकार के

-साथ। तम् अनेन अपियोजयेत् मकार के अर्थ भूत आत्मा के साथ सयुक्त करे। सारांश यह हुआ कि परमात्मा और आत्मा की एकता का अनुभव करे और दोनों की एकता का ही चिन्तन करे।

अष्टम खण्ड में चतुर्थ जो तुरीय पद है, उसके जो ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प ये जो चार भेद बताये उनके साथ ओंकार और आत्मा का सर्वव्यापकता बतायी है। आत्मा तथा प्रणव सब तुरीय में ओतप्रोत हैं। इसी प्रकार आत्मा की अनुज्ञाता, अनुज्ञा और निर्विकल्प इनके साथ भी प्रणव की एक-रूपता बताकर आत्मा को भेद रहित सिद्ध किया। यह ब्रह्म सर्वथा भय से रहित है। जो इस प्रकार जानता है, वह भी भय से शून्य ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार अष्टम खण्ड में भय रहित ब्रह्मरूप हो जाने की विधि का वर्णन है।

अब नवम खड में देवताओं ने ब्रह्माजी स ओंकार के लक्ष्यार्थ भूत आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इस पर ब्रह्माजीने उप-द्रष्टा, अनुमन्ता सिंह रूप आत्मा को चित्स्वरूप तथा निर्विकार और सवत्र साक्षिमात्र बताया। इस प्रकार आत्मा को अद्वैत सिद्ध किया। जो यह द्वैत प्रतीत होता है, यह सब माया में ही है। माया से आभास द्वारा चैतन्य एक आत्मा जीव और ईश्वर के भेद में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह माया त्रिगुणात्मिका है। इस त्रिगुणात्मिका माया द्वारा ही जीव और ईश्वर में भेद हो जाता है। शरीर में अभिमान रखने वाला चेतन ही जीव कहलाने लगता है, उस जीव पर जो नियंत्रण रखता है उसे ईश्वर कहते हैं। यह सब माया के ही द्वारा होता है। वास्तव में सत् स्वरूप ब्रह्म ही एक अद्वय और स्वतः सिद्ध है।

इस प्रकार बताकर ब्रह्माजी ने देवताओं से कहा—"तुम स्वयं

ही द्वैतरूप में भासित होने वाले अद्वैत आत्मा हो। द्वैत के प्रति आसक्ति होने के कारण तुम अपने को असंग न समझकर ससंग समझे हुए हो।"

देवताओं ने कहा—"नहीं प्रभो ! हम तो असङ्ग ही हैं।"

ब्रह्माजी ने कहा—"असंगता में तो द्वैत दिखायी ही नहीं देता ? ब्रह्म तो अद्वय है, वह शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप है, सब ओर से परिपूर्ण सत्‌चित तथा आनन्द स्वरूप है। वह अनिर्वचनीय तथा अवाङ्‌ मनसगोचर है। आत्मा प्रणव का वाच्यार्थ है।"

इस प्रकार ब्रह्माजी ने देवताओं को प्रणव के द्वारा आत्मा को जानने की विधि बतायी और उन्हें उपदेश दिया तुम अपने को एकमात्र साक्षिरूप मानकर आनन्द के साथ स्थित हो जाओ। सम्पूर्ण उपदेश का सार बताते हुए उन्होंने प्रणव के चतुर्थ तुरीय पाद के जो ओत, अनुज्ञाता अनुज्ञा और अविकल्प चारभेद बताये थे, उनके सम्बन्ध में कहा—देखो, चार भेदों में से पहिला भेद है ओत-प्रोत (अर्थात् सर्वव्यापक)। आत्मा को उस आत्मा प्रणवरूपी ओत के द्वारा जाने। फिर दूसरा भेद अनुज्ञाता है उसे प्रणव के अनुज्ञाता आत्मा के रूप में जाने। तीसरा भेद जो अनुज्ञा है उसे भी प्रणव के द्वारा अनुज्ञारूप आत्मा को जाने। चौथा जो भेद अविकल्प या निर्विकल्प है, उसे प्रणव द्वारा अविकल्प आत्मा को जानकर उपद्रष्टा भाव को प्राप्त हो। कहने का सारांश यही है, अपने को केवल साक्षी समझकर स्थित रहे। जैसे दीपक कर्ता नहीं। दीपक के प्रकाश में जो भी पुरुष कर्म करते हैं दीपक केवल उनका साक्षी होता है, उसे कर्ता का पुण्य पाप नहीं लगता। इसी प्रकार तुम अपने को साक्षी समझो।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार यह अथर्ववेदीय नृसिंहउत्तरतापनीय उपनिषद् अद्वैतपरक है। ब्रह्माजी ने

देवताओं को आत्मा, प्रणव और ब्रह्म की एकता का उपदेश करते हुए, माया और जीव को मिथ्या बताते हुए एक मात्र परब्रह्म को ही अद्वैत सच्चिदानन्द स्वरूप सिद्ध किया। यह सब ज्ञान प्रणव जिसके आदि मे है ऐसे उग्र, वीर, महाविष्णु, ज्वलन्त, सर्वतोमुख, नृसिंह, भीषण, भद्र, मृत्यु मृत्यु इन नौ द्वितीयान्त पद वाले अन्त मे नमाम्यहम् वाले बत्तीस अक्षरों के चार पाद वाले अनुष्टुप् छन्द वाले नृसिंह मन्त्रराज के जप से, ध्यान से होगा। यही दोनो उपनिषदों का सारतत्त्व है। इस प्रकार नृसिंह पूर्वतापनीय और उत्तरतापनीय उपनिषदों का अत्यन्त ही सक्षेप मे सारतत्त्व कहा अब आप आगे कालाग्निरुद्र, मैत्रेयी आदि उपनिषदों का सार सुनिये।"

छप्पय

मन्त्रराज के चार पाद को पृथक पृथक जप।
कैसे तिनिको ध्यान करैं विधि कही करैं तप॥
तुरिय रूप नरसिंह रूप सँग ब्रह्म एकता।
प्रणव संग जप करैं एकता चिन्तन थिरता॥
ओंकार वाच्यार्थ में, ब्रह्मलीन ह्वैकें रहैं।
आत्मा अरु परमात्मा, करैं एक थित अभय है॥

—o—

इति नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषद्-सार
समाप्त

कालाग्नि रुद्र और मैत्रेयी उपनिषद्-सार

[२९५]

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत् परमेश्वरम् ।
साक्षिणं बुद्धि वृत्तस्य परमप्रेमगोचरम् ॥*
(मैं० उ० १ अ० ८ मं०)

छप्पय

अब आगे कालाग्नि रुद्र उपनिषद् बतावें।
सनत्कुमारहिँ रुद्र त्रिपुण्डहिँ विधि बतलावें॥
पुनि मैत्रेयी कही उपनिषद् भूप वृहद्रथ।
के प्रति शाकायन्य कही जिहि गूढ़ अरथ अथ॥
रुद्र कह्यो निजकूँ लखै, सत्यासत्य विहीन नित।
सोहं पुरुषोत्तम परम, सम, केवल, आनन्द सत॥

जीव तो शुद्ध है, चैतन्य है, आनन्द रूप है। शरीर संसर्ग से, अहङ्कार के संयोग से, माया के प्रभाव से, अपने यथार्थ रूप को भूलकर अशुद्ध-सा, जड़-सा, तथा आनन्दरहित बन गया है। उसके समीप ही हृदय कमल की कर्णिका की गुप्त गुफा में उसके स्वामी सर्वेश्वर विराजमान हैं। जब चित्त की वृत्तियाँ वाह्य

---

* हृदय कमल के मध्य में जो परम प्रेम गोचर बुद्धि वृत्ति के साक्षी परमेश्वर हैं, उन्हीं की भावना करनी चाहिये—उन्हीं का शुद्ध चित्त से ध्यान करना चाहिये।

प्रपञ्च की चिन्तना छोड़कर अन्तर्मुखी होगीं, भीतर की ओर देखने लगेंगीं, तो जीव को—अपने यथार्थ स्वरूप का स्मरण हो आवेगा। तब वह सोचेगा मैं तो इनका सनातन सखा हूँ। पिप्पली फल खाने से मेरी ऐसी दशा हो गयी है। मेरा सखा इन फलों को नहीं खाता। वह साक्षी रूप से केवल देखता ही रहता है। आज से मैं भी इन बन्धन में डालने वाले—अपने निज स्वरूप को भुलाने वाले इन कड़वे फलों को नहीं खाऊँगा। जहाँ यह इन फलों का परित्याग कर देता है वहाँ मर्त्य से अमृत हो जाता है, निरानन्द से आनन्दमय शान्तिमय बन जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं कालाग्नि रुद्र उपनिषद् के सार को आपसे कहूँगा। इसका शान्ति पाठ 'सहनाववतु' है। यह बहुत छोटी शैव उपनिषद् है। इस उपनिषद् का संवर्तक अग्नि तो ऋषि है, अनुष्टुप् इसकी छन्द है। श्री कालाग्नि रुद्र इसके देवता हैं। भस्म त्रिपुण्ड धारण करने में इसका विनियोग होता है। सनत्कुमार ऋषि ने भगवान् कालाग्नि रुद्र से पूछा— "भगवन्! मुझे त्रिपुण्ड धारण करने की विधि बतावें। इसमें कौन-सा द्रव्य लगता है, किन-किन स्थानों में लगावें, या कहाँ-कहाँ लगावें। इसकी रेखा, मन्त्र, शक्ति, दैवत, तथा कर्ता के विषय में बतावें और त्रिपुण्ड लगाने का फल क्या है इसे भी बतावें।"

इस पर भगवान् कालाग्नि रुद्र ने बताया—"देखो, भाई! इसमें द्रव्य तो अग्नि में जली भस्म है। भस्म का त्रिपुण्ड लगाना चाहिये। सद्योजातादि जो पाँच ब्रह्म मन्त्र हैं उनसे तो भस्म को ग्रहण करे। फिर अग्नि, वायु, जल, स्थल, व्योम इन सबमें पृथक् पृथक् इति लगाकर भस्म कहकर इससे भस्म को अभि-मन्त्रित करे। 'मानस्तोक' इत्यादि मन्त्र से भस्म को उठावे।

फिर 'मानो महान्तम्' इत्यादि मन्त्र से जल से उसे गीली करके 'त्रियायुषम्' इत्यादि मन्त्र से सिर, ललाट, वक्षःस्थल और कन्धों में भस्म लगावे। तदनन्तर 'त्रियायुषैः त्र्यम्बकैः त्रिशक्तिभि' इस प्रकार माथे पर तीन रेखायें बनावे। वेद वादियों ने इसे शाम्भव व्रत कहा है। जो इस प्रकार त्रिपुण्ड्र धारण करता है उसका फिर संसार में जन्म नहीं होता।"

इस पर सनत्कुमारजी ने पूछा—"इस त्रिपुण्ड्र धारण का प्रभाव क्या है ?"

इस पर कालाग्नि रुद्र भगवान् ने कहा—"तीन रेखाओं का त्रिपुण्ड्र होता है। पहिली रेखा ललाट से चक्षु, मूर्धा, भ्रूमध्य पर्यन्त हो। यह पहिली रेखा गार्हपत्य अग्नि स्वरूप, रजोगुण, भूलोक, स्वात्मा, क्रियाशक्ति, ऋग्वेद, प्रातः सवन तथा प्रणव के प्रथम अक्षर अकार स्वरूप है। इसके महेश्वर देवता हैं। इसके ऊपर जो दूसरी रेखा है वह दक्षिणाग्नि स्वरूप प्रणव का दूसरा अक्षर उकार, सत्वगुण, अन्तरिक्ष लोक, अन्तरात्मा, इच्छाशक्ति, यजुर्वेद तथा माध्यन्दिन सवन स्वरूपा है। इसके सदाशिव देवता हैं। इसके ऊपर जो त्रिपुण्ड्र की तीसरी रेखा है, वह अग्नियों में आहवनीय अग्नि स्वरूपा, प्रणव का तृतीय अक्षर मकार, द्यौलोक, परमात्मा, ज्ञानशक्ति, सामवेद तथा सायंसवन स्वरूपा है। इसके महादेव ही देवता हैं।

इस विधि से जो भस्म द्वारा शरीर के अङ्गों में त्रिपुण्ड्र धारण करता है वह विद्वान् चाहे ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी हो। वह महापातक, उपपातकादिकों से पवित्र हो जाता है। जिसने शरीर में भस्म का त्रिपुण्ड्र धारण कर लिया, उसने सभी तीर्थों में स्नान कर लिया। उसने सभी वेदों को पढ़ लिया, उसने समस्त देवताओं को जान लिया। वह

निरन्तर सकल रुद्र मन्त्रों का जप करने वाला होकर पृथ्वी के समस्त भोगों को भोगने वाला होता है, अन्त में देह त्यागकर शिवजी का सायुज्य प्राप्त करता है। उसका संसार में फिर जन्म नहीं होता। फिर जन्म होता ही नहीं है, यह बात भगवान् कालाग्नि रुद्र ने अपने श्रीमुख से स्वयं कही है। जो इस उपनिषद् का अध्ययन करता है, उसको भी शिव सायुज्य प्राप्त होती है। ॐ सत्यम्-इति कालाग्नि रुद्र उपनिषद्।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने त्रिपुण्ड्र धारण की विधि बताने वाली कालाग्नि रुद्र उपनिषद् का अर्थ आपसे कहा। अब आप मैत्रेयी उपनिषद् का सार सुनिये।"

मैत्रेयी उपनिषद् का 'आप्यायन्तु' इत्यादि शान्ति पाठ है। यह उपनिषद् तीन अध्यायों में समाप्त हुई है। प्रथम अध्याय में राजा बृहद्रथ अपने बड़े पुत्र को राज्य देकर वन में तपस्या करने चला गया। उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर बहुत से मुनि उनके समीप आये। उनमें से शाकायन्य ऋषि ने उससे वर माँगने को कहा।

तब राजा ने संसार की असारता बताते हुए कहा—"भगवन्! यह शरीर मैथुन द्वारा उत्पन्न हुआ है। नरक का द्वार है। मूत्र स्थान से निकला है। हड्डियों से बनाया गया है, मांस से लीपा गया है, चर्म से ढका है। विष्ठा, मूत्र, वात, पित्त, कफ, मज्जा, मेदा, वसा आदि मलों से परिपूर्ण है, ऐसे शरीर में वर्तमान मेरी एकमात्र आप ही गति हैं। इससे मेरा उद्धार कैसे हो?"

इसपर शाकायन्य ऋषि ने कहा—"महाराज! आप इक्ष्वाकु वंश की ध्वजा स्वरूप हैं। आपको आत्मज्ञान की जिज्ञासा हुई

इससे आप कृतकृत्य हो गये। आपका मरुत् यह नाम विख्यात होगा।"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! आत्मा कैसा है, इसे मुझे बतावें ?"

तब शाकायन्य ऋषि ने कहा—"देखो, ये जो शब्द, स्पर्शमय भोग रूप अर्थ हैं वास्तव में ये अनर्थ रूप हैं। इनमें जो जीव आसक्त हो जाता है, यह परमपद का स्मरण नहीं करता है। देखो, राजन् ! तपस्या से सत्त्व की प्राप्ति होती है, सत्त्व से मन का शुद्ध स्वरूप ज्ञात होता है। शुद्ध मन से आत्मा की प्राप्ति होती है। आत्मा की प्राप्ति होने पर अपत्यादि से निवृत्ति हो जाता है। जैसे अग्नि जल रही है। जब उसका ईंधन समाप्त हो जायगा, तब वह अपने आप बुझ जायगी। इसी प्रकार चित्त की वृत्तियों के क्षय हो जाने पर चित्त अपने आप शान्त हो जायगा। जब मन अपनी ही योनि में उपशान्त हो जायगा, तब वह सत्य-गामी बन जायगा। जब वह इन्द्रियों के जो शब्द स्पर्शादि अर्थ हैं उनमें फँस जायगा तो विमूढ़ बन जायगा तब वह असत्यगामी होकर कर्मों के वशवर्ती हो जायगा।

संसार कोई अन्य वस्तु नहीं। यह चित्त ही संसार है, इसलिये प्रयत्न पूर्वक चित्त का ही संशोधन करना चाहिये। चित्त जहाँ जाकर अटक जायगा वहीं तन्मय हो जायगा। यही सनातन गुह्य सत्य है। चित्त के ही प्रसाद से शुभ तथा अशुभ कर्म नाश हो जाते हैं। तब जीव प्रसन्नात्मा होकर अक्षय सुख को प्राप्त होता है। जैसा चित्त विषयों में आसक्त है यदि ऐसी ही आसक्ति इसकी ब्रह्म में हो जाय तो फिर कौन ऐसा है जो संसार बन्धन से छूट न जाय ? हृदय कमल के मध्य स्थित परम प्रेमगोचर बुद्धि वृत्ति के साक्षी परमेश्वर का ही ध्यान करना

चाहिये। वह परब्रह्म अगोचर है, मन वचनादि से परे हैं, सत्ता-मात्र है, एक ही प्रकाश स्वरूप है, वहाँ न तेज है न तम है। निर्विकल्प, निराभास, निर्वाणमय संविद है। वह आनन्द का सागर है, 'सोऽहमस्मि' स्वरूप है।

ऐसा ध्यान करे कि मैं सदा निजानन्द में निमग्न हूँ, यह जो आशा नाम वाली पिशाची है इसका सदा तिरस्कार करता रहे। इस जगत् को इन्द्रजाल करके देखे। यह सोचे - "मैं तो असंग हूँ, मुझमें यह जगत् प्रपञ्च कैसे प्रवेश कर सकता है। जो अज्ञानी हैं कर्मों में विमूढ बने हुए हैं, वे वर्ण और आश्रम के कर्मों में आसक्त होकर अपने-अपने कर्मानुसार फलों को प्राप्त होते हैं। मैं तो आत्मस्वरूप वर्ण आश्रमों के कर्मों से परे हूँ। ऐसा दृढ़ निश्चय करके सभी कर्मों का परित्याग करके पुरुष अपने ही आनन्द में सदा परितृप्त बना रहता है। इसलिये जो वर्णाश्रम से संयुक्त सकाम कर्म हैं, वे आदि और अन्त वाले हैं, बड़ी कठिनता से सम्पादित होते हैं। इसलिये पुत्र परिवार आदि में, देहादि में सबमें अभिमान शून्य होकर अनन्त सुख वाले ब्रह्मतत्त्व में अपनी स्थिति करे। यहाँ आकर पहिला अध्याय समाप्त होता है।

दूसरे अध्याय में भगवान् मैत्रेय कैलाश में गये। वहाँ उन्होंने महादेवजी से परमतत्त्व पूछा।

तब महादेवजी ने कहा—"देखो, इस देह को तो देवालय मानो। इसमें रहने वाले जीव को केवल शिव समझो। देवता पर जो निर्माल्य चढ़ी रहती है उसे फेंक देते हैं। इसलिये जीव पर जो अज्ञान रूपी निर्माल्य है उसे फेंक दो। इस जीव रूप देव की 'सोऽहं-सोऽहं' इस भाव से पूजा करो। अभेद दर्शन का ही नाम ज्ञान है, मन का निर्विषय हो जाना यही ध्यान है, मन

के मल का त्याग करना यही स्नान है, इन्द्रियों का निग्रह कर लेना यही शौच है। ब्रह्मरूप जो अमृत है उसे तो पीया करे। और देह की रक्षा के लिये अमृतान्न जो भिक्षा का अन्न है उसे माँगकर लाकर खाया करे। एकान्त में निवास करे। एकान्त क्या है जहाँ द्वैत न हो। जो इस प्रकार आचरण करता है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

देखो, यह देह मरा हुआ ही पैदा होता है, देह क्या है? माता पिता का मल रूप है, सुख-दुःख का घर है अपवित्र है, मृतक सदृश है। इसे छूकर स्नान करना चाहिये। सप्त धातुओं से यह देह आबद्ध है, महारोगों का घर है, पापों का मंदिर है, नाशवान् है, विकारों के आकारों से बढ़ा हुआ है, इसे छूकर स्नान करना चाहिये। देखो, इसके नौओं द्वारों से स्वतः ही सदा मल बहता रहता है, इसमें दुर्गन्ध ही दुर्गन्ध भरी है, मलों से ठसाठस परिपूर्ण है, इसे छूकर स्नान करना चाहिये। माता के सूतक सम्बन्ध से सूतकों के साथ ही यह पैदा हुआ है। जिस देह के जन्म के समय भी सूतक और मरने पर भी सूतक लगते हैं, उस देह को छूकर स्नान करना चाहिये। ये जो अहंता और ममता हैं, वास्तव में ये ही विष्ठा और मूत्र हैं. इनके दुर्गन्ध को हटाना चाहिये। शुद्ध शौच तो यही है। मिट्टी और जल से शौच करना यह तो लौकिक शौच है।

चित्त शुद्धि कर शौच तो तीनों प्रकार की वासनाओं का नाश करना ही है। ज्ञान और वैराग्य रूपी मिट्टी तथा जल से प्रक्षालन करना वास्तव में इसी का नाम शौच है। अद्वैत की भावना ही खाने योग्य भिक्षा अन्न है, द्वैत भावना यही न खाने योग्य अन्न है। गुरु और शास्त्रोक्त भावना से भिक्षु संन्यासी की भिक्षा कही गयी है। विद्वान् को चाहिये कि अपने देश को

त्यागकर संन्यास धारण करे। संन्यास लेने के अनन्तर अपने घर से इस प्रकार दूर रहे जैसे कारागार से छूटा हुआ चोर कारागार से दूर ही जाकर रहता है। जब तक यह प्राणी अहङ्कार रूप पुत्र को, धन रूप बन्धु बान्धवों को, मोह रूप मन्दिर को, आशा रूपी पत्नी को, नहीं त्यागेगा, तब तक मुक्त नहीं होगा। यह संशय रहित बात है।

संन्यासी को संध्या नहीं करनी चाहिये क्योंकि सूतकों में संध्या निषेध है। संन्यासी को सूतक कैसे लग गया? सूतक दो प्रकार के होते हैं, जन्म के तो वृद्धि सूतक कहाते हैं, मरने के पातक सूतक कहाते हैं। संन्यासी को सूतक और पातक दोनों लगे हैं, क्योंकि उसकी मोह रूपी माँ मर गयी है और बोध रूप पुत्र उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार दोनों प्रकार के सूतक संप्राप्त होने पर संन्ध्या कैसे करे?

फिर सन्ध्या सन्धि समय में-सूर्य के उदय होने पर और अस्त होने पर-की जाती है। संन्यासी के हृदय रूप आकाश में चित् स्वरूप चैतन्य सूर्य सदा भासित होता रहता है। वह न तो कभी अस्त होता है न उदय होता है। जब उसके हृदय में संध्या काल होती ही नहीं तो फिर वह संध्या कैसे करे?

संन्यासी एकान्त में रहे। एकान्त क्या? अद्वितीय जो एक ब्रह्म है, जिसका गुरु वाक्य से निश्चय किया गया है। वास्तव में तो अद्वैत भावना ही एकान्त है। मठ में या वन में एकान्त नहीं है। संशययुक्त चित्त वालों की जन्म-जन्मातर में भी मुक्ति नहीं होती। वह तो संशय रहित पुरुषों को ही प्राप्त होती है। इसलिये दृढ़ विश्वास करना चाहिये।

बहुत से मूढ़ लोग लौकिक वैदिक कर्मों का त्याग करके संन्यासी का वेष बना लेते हैं। बहुत से कहते हैं हमने तो प्रेप

मन्त्र सुन लिया संन्यासी हो गये। वास्तव में कर्मत्याग और प्रैष उच्चारण से कोई संन्यासी नहीं होता। जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य ज्ञान का ही नाम वास्तव में संन्यास है। जिसके लिये लोकेषणा, वित्तेषणा और पुत्रेषणा ये समस्त ऐषणाएँ वमन किये हुए अन्न के सदृश प्रतीत हों जिसे देह का तनिक भी अभिमान न हो कि मैं अमुक हूँ, उसी व्यक्ति का संन्यास में अधिकार है। जब संसार की समस्त वस्तुओं के प्रति हृदय से पूर्ण वैराग्य हो जाय तब ही संन्यास धारण करना चाहिये। नहीं तो पतित हो जायगा।

बहुत-से धन के लोभ से संन्यासी का वेष बना लेते हैं, बहुत से अन्न वस्त्र के लिये संन्यासी वन जाते हैं, बहुत-से प्रतिष्ठा के लिये संन्यासी हो जाते हैं, वे उभय भ्रष्ट हो जाते हैं न संसार के ही रहते हैं, मुक्ति तो ऐसे लोगों को मिल ही नहीं सकती। वे शिखासूत्र विहीन वर्णाश्रम से रहित यवनों की भाँति होते हैं।

देखो, तत्त्व की चिन्ता में ही निमग्न रहना उत्तम साधक का लक्षण है। मध्यम साधक शास्त्र चिन्तन में निमग्न रहता है। मन्त्र चिन्तन को अधम साधना कहा है और तीर्थों में भ्रमते रहने को अधमाधम साधना कहा है। जिन्हें ब्रह्म की कुछ अनुभूति तो है नहीं। वैसे ही ब्रह्म-ब्रह्म पुकारते हुए मुदित होते हैं। उनकी वह प्रसन्नता उसी प्रकार है जिस प्रकार फले हुए वृक्ष का प्रतिबिम्ब जल में पड़े और उस प्रतिबिम्बित फली शाखा के फलों को खाकर अपने को तृप्त समझें, प्रसन्नता का अनुभव करें।

यति संन्यासी को चाहिए कि माधुकरी वृत्ति जो माता के सदृश है उसका परित्याग न करे तथा वैराग्य रूप पिता को, श्रद्धा रूपी पत्नी को और ज्ञान रूप पुत्र को भी त्यागे नहीं।

देखो जी, बहुत से धन से वृद्ध होते हैं, बहुत से अवस्था से तथा ज्ञान से वृद्ध होते हैं, किन्तु ये सभी वृद्ध ज्ञान वृद्ध के शिष्यों के किंकरों के भी किंकर हैं। बहुत से सूरि भी जिन परमात्मा की माया से मोहित होकर आत्मा को बिना जाने आत्मज्ञान को बिना प्राप्त किये इस पापी पेट को पूर्ण करने के निमित्त कौओं की भाँति इधर से उधर भ्रमते रहते हैं।

ये जो पाषाण, लोहा, मणि तथा मिट्टी की मूर्ति की अज्ञानी पूजा करते हैं, उनकी यह पूजा भोगों को देने वाली तथा पुनर्जन्म करने वाली है। इसलिये यति को चाहिये अपने हृदयस्थ ब्रह्म की ही अर्चना करे, उसी से मुक्ति प्राप्त होगी। देखो, जल में घड़े को डुबा दो तो उसके भीतर भी जल भर जायगा और बाहर चारों ओर भी जल ही जल हो जायगा। आकाश में खाली घड़े को रख दो तो उसके भीतर भी घटाकाश परिपूर्ण हो जायगा और बाहर भी वृहदाकाश उसे घेर लेगा। इसी प्रकार ब्रह्म में निमग्न होने पर बाहर भीतर ब्रह्म ही ब्रह्म हो जायगा। इसलिये तुम ग्राह्य भावात्मा तथा ग्राहकात्मा मत होओ। सभी प्रकार की भावनाओं को त्यागकर जो बच रहे उसी में तन्मय हो जाओ अर्थात् ब्रह्ममय बन जाओ।

एक दृश्य होता है, एक दर्शन तथा एक द्रष्टा। तुम तीनों ही को वासना सहित त्याग दो। केवल दर्शन प्रथम आभास जो केवल आत्मा है, उसी को भजो। परास्वरूप स्थिति इसी का नाम है, कि सम्पूर्ण संकल्प शान्त हो जायँ। जैसे पत्थर की शिला बिना कुछ संकल्प किये पड़ी रहती है, वैसी स्थिति हो जाय। न जाग्रत अवस्था ही रहे न निद्रावस्था ही रहे इन सभी अवस्थाओं से विनिर्मुक्त हो जाय। यति को सदा इसी प्रकार परास्वरूप स्थिति में रहना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यहाँ पर मैत्रेयी उपनिषद् का दूसरा अध्याय समाप्त हो गया। अब आप तीसरे अध्याय के विषय में सुनिये, उसमें अपने में ब्रह्म भावना करते हुये कहा है—

सदा अपने को ब्रह्ममय ही चिन्तन करे, सोचे—"मैं ही हूँ, पर भी मैं हूँ, ब्रह्म मैं हूँ, मैं ही प्रभव हूँ, समस्त लोकों का गुरु मैं हूँ, सर्वलोकमय वह ब्रह्म मैं ही हूँ। मैं ही सिद्ध, शुद्ध, परम, सदा नित्य तथा विमल हूँ। मैं ही विज्ञान, विशेष, सोम, सकल, शुभ, शोकहीन, चैतन्य, सम, मानापमान से रहित, निर्गुण, शिव, द्वैत-अद्वैत से विहीन, द्वंद्वहीन, भाव अभावहीन, भासाहीन शून्या-शून्यप्रभाव, शोभना अशोभनाहीन, तुल्य अतुल्य से विहीन, नित्य, शुद्ध, सदाशिव, सर्व-असर्व विहीन, सात्त्विक, सदा एक तथा दो संख्याविहीन, सद् असद् भेदहीन, संकल्प रहित, नानात्म भेदहीन तथा अखंडानंद विग्रह हूँ। मैं न तो अहमस्मि हूँ और न अन्यास्मि हूँ, मैं देहादि से रहित हूँ। मैं आश्रयाश्रयहीन, आधार रहित, बंध मोक्षादिहीन, शुद्ध ब्रह्म वह मैं ही हूँ। मैं चित्तादि सबसे हीन, परम, परात्पर, सदा विचाररूप, निर्विचार, अकार, मकार रूप सनातन, ध्याता ध्यान विहीन, ध्येयहीन, सर्वपूर्ण स्वरूप, सच्चिदानन्द लक्षण, सर्वतीर्थ स्वरूप, परमात्मा, शिव, लक्ष्यालक्ष्य विहीन, लयहीन रसरूप, मातृमान विहीन, मेयहीन, शिव मैं ही हूँ। मैं जगत् का सर्वद्रष्टा, नेत्रादि से रहित प्रवृद्ध, प्रबुद्ध, प्रसन्न, पर, सर्वेन्द्रिय विहीन, सर्वकर्म कृत्, सर्ववेदान्ततृप्त, सर्वदा सुलभ हूँ। मैं ही मुदिता अमुदिता, सर्वमौन फल, नित्य चिन्मात्र रूप, सच्चिन्मय हूँ, जो भी कुछ हीन, अल्प, स्वल्प, अति, जो भी है सब मैं ही हूँ। मैं हृदय ग्रन्थि से हीन, हृदय कमल के बीच रहने वाला, षड्विकार विहीन, षट्कोश रहित, षड्अरियों

से मुक्त, अन्तर से भी अन्तर, देशकाल से विमुक्त, दिगम्बर सुख, नास्ति नास्ति विमुक्त, नकार रहित, अखंड आकाश रूप, अखंडाकार, प्रपञ्च मुक्त चित्त, प्रपञ्च से रहित, सर्व प्रकाशरूप, चिन्मात्र ज्योति, कालत्रय विमुक्त, कामादि रहित, कायक आदि से विमुक्त, निर्गुण, केवल, मुक्तिहीन, मुक्त, मोक्षहीन, सत्य असत्य से हीन, सन्मात्रान्न, गन्तव्य देश से विहीन, गमनादि वर्जित, सर्वदा समरूप, शान्त तथा पुरुषोत्तम, मैं ही हूँ।

यति को चाहिये वह ऐसा अनुभव सदा ही करता रहे। जो ऐसा अनुभव करता रहता है वह साक्षात् ब्रह्म ही है, इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं। जो इस उपनिषद् को श्रद्धा के साथ एक बार भी श्रवण करता है, वह भी स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मैत्रेयी उपनिषद् का यह अन्तिम तीसरा अध्याय समाप्त हुआ। यह उपनिषद् अद्वैत परक यति संन्यासियों की उपनिषद् है। इसमें अहंग्रह उपासना बतायी गयी है। इसके पश्चात् मैं सुबाल उपनिषद् का सार सुनाऊँगा। आशा है आप उसे श्रद्धापूर्वक श्रवण करेंगे।"

छप्पय

शिव समीप कैलाश गये मैत्रेय महामुनि।
'परमतत्त्व प्रभु ! कहें' विहँसि बोले शिव मुनि सुनि॥
तन देवालय जीव शिवहि निर्माल्य अज्ञता।
पूजा सोऽहं भाव मनोमल त्यागहि शुचिता॥
शुद्ध, बुद्ध, नित, निरंजन, निष्कल, निर्गुन, निरामय।
सब अपनेकूँ ही समुझि, जीव होइ यह ब्रह्ममय॥

इति कालाग्नि रुद्र और मैत्रेय्युपनिषद्—सार समाप्त

उपाख्यान तथा समस्त भूत, हिरण्यज्योति जिसमें यह आत्मा तथा समस्त विश्व ब्रह्माण्ड अवस्थित है यह सब उत्पन्न हुए।

फिर ब्रह्माजी ने अपने शरीर के दो भाग कर लिये। आधे से स्त्री और आधे से पुरुष हुए। फिर देवभाव से देवताओं को उत्पन्न किया। फिर ऋषि होकर ऋषियों को तथा यक्ष, राक्षस गन्धर्व तथा ग्राम में रहने वाले अरण्य में रहने वाले पशुओं को उत्पन्न किया। गौ-बैल, घोड़ा-घोड़ी, गधा-गधी, खच्चर खच्चरी इस प्रकार ग्राम्य पशु हुए।

अन्त में वैश्वानर अग्नि होकर सम्पूर्ण प्राणियों को दग्ध कर दिया। पृथ्वी जल में, जल तेज में, तेज वायु मे; वायु आकाश में, आकाश इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में, तन्मात्रायें भूतादि में, भूतादि महत्तत्व में लीन हो गयीं। महत्तत्व अव्यक्त में, अव्यक्त अक्षर में, अक्षर तम में विलीन हो गये। तम परदेव में विलीन हो गया। उस परदेव से परे न सत् है न असत् है न सद्-असद् है उसे निर्वाणपद कहते हैं। यही अनुशासन है, यही वेदानुशासन है। यहाँ आकर द्वितीय खण्ड समाप्त होता है।

अब तीसरे खण्ड में साधन प्रक्रिया बताते हुए कहते हैं— "आगे असत् ही था। इसलिये धीर पुरुष अपने को अजात, अभूत, अप्रतिष्ठित, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अव्यय, अमहान्त, अबृहन्त तथा अज मानकर सोच नहीं करता। अप्राण, अमुख, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेज, अचक्षु, अनाम, अगोत्र, अशिर, अपाणि, अपाद, अस्निग्ध, अलोहित, अप्रमेय, अह्रस्व, अदीर्घ, अस्थूल, अनणु, अनल्प, अपार, अनिर्देश्य, अनपावृत, अप्रतर्क्य, अप्रकाश्य, असंवृत, अनन्तर तथा अग्राह्य मानकर यह सोचे कि वह आत्मा कुछ भी खाता नहीं है, थोड़ा भी नहीं खाता, यह आत्मा सत्य से, दान से, तप से, अन-

शन करने से, ब्रह्मचर्य से, निर्वेद से तथा वेद के छैओं अंगों से साधना करता है, जो दम, दान तथा दया इन तीनों द्वारा इसे देखता है, इसको जानने का प्रयत्न करता है। उसके प्राण उत्क्र-ण नहीं करते। अर्थात् ऊपर के पुण्यलोकों को नहीं जाते, इसी ान पर विलीन हो जाते हैं। वह ब्रह्म होकर ब्रह्म में ही मिल ाता है। जो इसे जानता है, वह ब्रह्म हो जाता है। यहाँ आकर ीसरा खण्ड समाप्त होता है।

अब चौथे खण्ड में नाड़ियों का वर्णन करते हुए बताया गया कि हृदय के मध्य में लोहित वर्ण का एक मांस पिण्ड है, उसमें क दहर कमल है। वह कुमद की भाँति अनेकधा विकसित है। य के दश छिद्र हैं, उनमें प्राण प्रतिष्ठित हैं। जब यह आत्मा णों के साथ संयुक्त होता है तभी नेत्रों द्वारा नदियों को, नगरों नाना भाँति की वस्तुओं को देखता है। जब यह अपान के थ संयुक्त होता है तब यक्ष, राक्षस, तथा गन्धर्वादिको को ता है। जब यह व्यान के साथ संयुक्त होता है तब देव-ओं को तथा ऋषियों को देखता है। जब यह उदान के साथ क्त होता है, तब देवलोक, देवताओं, स्कन्द, तथा जयन्त दि को देखता है। जब यह समान के साथ संयुक्त होता है तब लोक तथा विविध भाँति के धनों को देखता है। जब यह म्भ के साथ संयुक्त होता है तब दृष्ट, श्रुत, भुक्त-अभुक्त, असत् सभी को देखता है। इन दश छिद्रों से दश-दश ड़ियाँ निकलती हैं। फिर इन नाडियों में से प्रत्येक मे से ७२-शाखायें निकलती हैं। फिर उनमे से सहस्र-सहस्र शाखायें ी हैं। इन सब नाड़ियों में जीवात्मा सोता रहता है। इन्हीं हकर शब्द करता है। जब दूसरे कोश में सोता है तब इस क तथा परलोक को देखता है। सभी शब्दों को विशेष रूप से

जानता है, उसका नाम सम्प्रसाद है। प्राण जो है सो शरीर की रक्षा करता है। ये नाड़ियाँ हरे, नीले, पीले, लाल तथा श्वेत रंग की होती हैं और रक्त से भरी रहती हैं। यह जो हृदयकमल का दहर स्थान है, वह कुमद को भाँति अनेकधा विकसित रहता है। इसमें से हिता नाम को नाड़ियाँ निकली हैं। वे केश के अग्रभाग के सहस्रवें भाग की भाँति अत्यन्त ही सूक्ष्म होती हैं। हृदय आकाश के परकोश में यह दिव्य आत्मा सोता रहता है। जब यह यहाँ सो जाता है तब किसी भी काम की कामना नहीं करता है। न किसी प्रकार का स्वप्न ही देखता है। उस अवस्था में देवता, देवलोक, अयज्ञ, यज्ञ, माता-पिता, बन्धु-बान्धव, चोर, ब्रह्महा कुछ भी नहीं रहते। तेजस्काय अमृत स्वरूप है जैसे सलिल, सलिल एक हो जाता है। फिर जैसे सोया था वैसे ही जब जागता है तब जैसे सम्राट् के चलने पर उसके पीछे-पीछे उसके सेवक सचिव चलने लगते हैं वैसे ही प्राण के पीछे समस्त इन्द्रियाँ उसका अनुगमन करने लगती हैं। यहाँ पर सुबालो-पनिषद् का चौथा खण्ड समाप्त होता है।

अब पाँचवे खण्ड में सर्वप्रथम इन इन्द्रियादिकों के अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म्य रूपों का वर्णन किया है। जैसे नाड़ियाँ स्थानों को स्थानों के लिये प्राप्त कराती हैं। उनके निबन्धनों को बताते हैं। जैसे चक्षु तो इन्द्रिय है यह तो इसका अध्यात्म स्वरूप है। देखना इसका अधिभूत रूप है और आदित्य इसका अधिदैवत स्वरूप है। इसका निबन्धन क्या है नाड़ियाँ हैं। जैसे चक्षु सूर्य के प्रकाश में ही देखती है, आँखों में भी सूर्य का ही प्रकाश है चक्षु न हो तो भीतर बाहर सूर्य के रहते हुए भी नहीं देखतीं। चक्षु नाड़ियों के द्वारा ही देखने में समर्थ होती हैं। इसलिये नाड़ियाँ ही निबन्धन हैं। जो चक्षु

में है, जो द्रष्टव्य में है, जो आदित्य में है, जो नाड़ी में है, जो प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में तथा हृदयाकाश में है इन सबमें एक ही आत्मा संचार करता है। उसको आत्मा कहते हैं। उसी आत्मा की उपासना करनी चाहिये। वह आत्मा अजर, अमृत, अभय, अशोक तथा अनन्त है। जिस प्रकार चक्षु के सम्बन्ध में बताया उसी प्रकार सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

जैसे श्रोत्र अध्यात्म, श्रोतव्य अधिभूत, दिशायें अधिदैवत। इनका निबन्धन हैं नाड़ियाँ। इसलिये जो श्रोत्र, श्रोतव्य, दिशा, नाड़ी, प्राण, विज्ञान, आनन्द तथा हृदय आकाश में है वही इन सबके भीतर संचार करता है। वह आत्मा ही है। उसी की उपासना करनी चाहिये। वह आत्मा अजर, अमृत, अभय, अशोक तथा अनन्त है।

इसी प्रकार, नासिका, जिह्वा, त्वचा, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, वाणी, हस्त, पाद, पायु और उपस्थ इन सबके अध्यात्म, आधिभौतिक तथा आधिदैविक रूप बताकर इन सबके भीतर संचार करने वाले आत्मा को सिद्ध करके उसका प्रत्येक के साथ अजर, अमृत, अभय, अशोक तथा अनन्त रूप बताया है। इस प्रकार सबके सम्बन्ध मे बताकर कहा गया है यह आत्मा सर्वेश्वर है। सर्वाधिपति, अन्तर्यामी, सबकी योनि, सभी सौख्यों से उपास्यमान, सभी सौख्यों को देने वाला, वेदशास्त्रों द्वारा उपास्यमान और वेद शास्त्रों की उपासना करता है। इस आत्मा के ये सभी अन्न हैं, किन्तु वह स्वयं किसी का अन्न-भोज्य-नहीं है। वह सर्वनयन, सबके प्रशास्ता अन्नमय भूतात्मा है, प्राणमय इन्द्रियात्मा है, मनोमय संकल्पात्मा है, विज्ञानमय कालात्मा है, आनन्दमय

लयात्मा है। वह एकत्व नहीं है। उसमें द्वैत कहाँ हो ही सकता है ? वह मर्त्य नहीं है, फिर अमृत कहाँ से होगा ? वह न तो अन्तः प्रज्ञ है, न बहिः प्रज्ञ है, न उभय प्रज्ञ है। न वह प्रज्ञान घन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है, न वह विदित है, न वेद्य है। यह निर्वाण अनुशासन वेदानुशासन है है। यहाँ पञ्चमखंड समाप्त होता है।

अब छटे खण्ड में यह बताया है, कि पहिले कुछ भी नहीं था। मूल में यह जगत् अनाधार था। फिर यह प्रजा-प्राणी पैदा हुए। इन सबमें एक दिव्य देव नारायण ही अवस्थित है।

चक्षु और द्रष्टव्य, श्रोत्र और श्रोतव्य, घ्राण और घ्रातव्य, इसी प्रकार जिह्वा, स्पर्श, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, वाक्, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ और इन सबके कार्य ये सब नारायण ही नारायण हैं। धाता, विधाता, कर्ता, विकर्ता, दिव्य तथा देव, ये सब एक नारायण ही नारायण हैं। आदित्य, रुद्र, मरुत, वसुगण, अश्विनी कुमार, ऋक्, यजु, साम, मन्त्र, अग्नि, आज्य, आहुति सब नारायण ही हैं। उद्भव, सम्भव, दिव्य, माता पिता, भ्राता, निवास, शरण, सुहृद्-गति, विराजा सुदर्शना, अजिता, सोम्या, अमोघा, कुमारा, अमृता, सत्या, मध्यमा, नाशीरा, शिशुरा, सूरा, सूर्या, स्वरा ये जो नाड़ियों के नाम हैं ये सब दिव्या हैं। ये ही गर्जना करती हैं, गाती हैं, चलती हैं, वर्षा करती हैं। ये सब नारायण ही हैं।

वरुण, अर्यमा, चन्द्रमा, कला, कलि, धाता ब्रह्मा, प्रजापति, मघवा, दिवस, अर्धदिवस, कला, कल्प तथा दिशा सभी नारायण हैं। यह जो कुछ भूत तथा भव्य है सब कुछ पुरुष ही पुरुष है— अमृतत्त्व है ईशान है, जो अन्न द्वारा अति रोहण करता है। वह मन विष्णु का परमपद है उसे सूरि लोग सदा देखते हैं।

यह विष्णु का परमपद है। यह निर्वाण का अनुशासन है। यही वेदानुशासन है है। यहाँ षष्ट खण्ड समाप्त होता है।

सप्तम खण्ड मे बताया है कि यह जो अज अनरात्मा है वह शरीर के भीतर विद्यमान जो हृदय कमल की गुहा है उसमें रहने वाला है। एक है, नित्य है। जिसका शरीर तो पृथ्वी है, वह पृथ्वी के अन्तर में सचार करता रहता है, किन्तु पृथ्वी उसे नहीं जानती। इसी प्रकार जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहकार, चित्त, अव्यक्त, अक्षर, मृत्यु इसके सब शरीर हैं, इनमें वह सचार करता है किन्तु ये इसे जानते नहीं। वह सर्वभूतान्त रात्मा, पाप रहित दिव्य देव नारायण ही है। इस विद्या को नारायण ने अपान्तरतम ऋषि को दिया। उन्होंने ब्रह्माजी को, ब्रह्माजी ने घोर अङ्गिरा को, घोर अङ्गिरा न रेकमुनि को, रेकमुनि ने श्रीरामचन्द्रजी को और श्रीराम ने समस्त भूतों को इसे दिया। यह निर्वाण अनुशासन है। वेदानुशासन है है।" यहाँ सप्तम समाप्त हुआ।

अष्टम खण्ड मे अन्तः शरीर मे जो निहित गुहा है उसमें : शुद्ध आत्मा मेद, मास क्लेद युक्त शरीर में अत्यन्त उपहत । से जैसे भीत मे चित्र लिखा रहता है वैसे स्थित रहता है। गे गन्धर्व नगर मिथ्या होता है, जैसे केले के पत्तों को निकालते ओ तो भीतर कुछ भी नहीं रहता ऐसे ही यह नि.सार है, जैसे । का बुद्बुद् क्षणिक होता है वैसे ही यह शरीर क्षणिक है। में जो आत्मा है वह अचिन्त्य रूप, दिव्य, देव, असग, शुद्ध, स्काय, अरूप, सर्वेश्वर, अचिन्त्य, अशरीर है। यह हृदय गुफा मे अवस्थित है, अमृत स्वरूप है, आनन्द स्वरूप विभ्राजित है। विद्वान् लोग ही उसे देखते हैं। जब उसमें

लीन हो जाते हैं तो नहीं देखते।" यहाँ अष्टम खण्ड समाप्त हुआ।

नवम खण्ड में महर्षि रैक ने भगवान् से पूछा—"यह सब किसमें अस्त हो जाते हैं?" तब भगवान् ने कहा—"यह सब प्रपञ्च चक्षु में लीन होते है, चक्षु द्रष्टव्य में, द्रष्टव्य आदित्य में, आदित्य विराज में, विराज प्राण में, प्राण विज्ञान में, विज्ञान आनन्द में, आनन्द तुरीय तत्त्व में लीन होते हैं। वह तुरीय तत्त्व ही अमृत, अभय अशोक, अनन्त, निर्वीज में विलीन होता है। फिर इसी प्रकार श्रोत्र, दिशा, सुदर्शन, विज्ञान, नासिका, पृथ्वी, जिह्वा, त्वचा, वाणी, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ, मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त इन सबको उनके कारणों में लीन करके अन्त में निर्वीज में लीन होना बताया है। अन्त में कह दिया है जो निर्वीज को जानता है वह निर्वीज ही हो जाता है। वह न कभी उत्पन्न होता है और न मरता ही है। न मोह को प्राप्त होता है। न टूटता है, न जलता है, न कटता है, न काँपता है, न कुपित होता है। यह आत्मा सर्वदहन है। यह आत्मा चाहे सैकड़ों प्रवचन सुन लो उनसे प्राप्त नहीं होता। बुद्धि ज्ञानश्रित बहुत श्रवण से भी प्राप्त नहीं होता। न मेधा से न वेदाध्ययन से, न यज्ञ यागों से, न उग्रतपों से, न सांख्य से, न योग से और न वर्णाश्रमादि अन्य उपायों से इसकी प्राप्ति होती है। प्रवचनों की प्रशंसा से व्युत्थान द्वारा उसको ज्ञानी ब्राह्मण जो गुरु सुश्रुषा करने में रत हैं, जो शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु हैं, जो समाहित होकर अपनी आत्मा से ही आत्मा को देखते हैं, वे ही प्राप्त करते हैं। ऐसे शान्त दान्त सबकी आत्मा हो जाते हैं। अर्थात् वे आत्मरूप हो जाते हैं। जो इसे जानते हैं वे भी आत्मरूप हो जाते हैं।" यहाँ नवम खण्ड समाप्त होता है। दशम खण्ड में रैकमह-

मुनि ने भगवान् से पूछा—"भगवन ! किसमें इन सबकी प्रतिष्ठा है। तब उन्होंने रसातल में प्रतिष्ठा बतायी। फिर पूछा—रसातल किसमें प्रतिष्ठित है ? वह किसमें ओत-प्रोत है ? तो फिर क्रमशः बताते गये। रसातल भूलोक में, भूलोक भुवर्लोक में, भुवर्लोक स्वर्गलोक मे, स्वर्गलोक महर्लोक मे, महर्लोक जनलोक मे, जनलोक तपलोक में, तपलोक सत्यलोक मे, सत्यलोक प्रजापति लोक में, प्रजापति लोक ब्रह्मलोक में। फिर पूछा—ब्रह्मलोक किसमें ओत प्रोत है ? तो बताया सभी लोक आत्मा में ही ओत-प्रोत हैं। जो इन सब लोकों को आत्मा में ही इस प्रकार ओत-प्रोत जानता है जैसे सूत्र मे मणियाँ ओत-प्रोत हैं, तो वह आत्मा ही हो जाता है। यही निर्वाण अनुशासन है, यही वेदानुशासन है है।" इस प्रकार दशम खण्ड समाप्त हुआ।

अब ग्यारहवें खण्ड में रैकमुनि ने पूछा—भगवन् ! यह जो विज्ञानघन है, इसका जो उत्क्रमन होता है, वह कहाँ किस स्थान को छोड़कर उत्क्रमन करता है। इस पर भगवान् ने कहा—हृदय कमल के मध्य मे जो दहर है उसमें खिले कमल के मध्य में समुद्र है, समुद्र के मध्य कोश है, उसमे चार नाड़ियाँ हैं उनके नाम रमा, अरमा, इच्छा और अपुनर्भवा हैं। इनमे से रमा तो पुण्यकर्मों द्वारा पुण्यलोक को ले जाती है। अरमा पाप के द्वारा पाप लोक को, इच्छा जिसका स्मरण करते हैं उसे प्राप्त कराती है। और अपुनर्भवा कोश का भेदन करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, भूतादि, महान्, अव्यक्त, अक्षर तथा मृत्यु इन सबको क्रम-क्रम से भेदन करके परेदेव में एकीभूत करा देती है। वह परब्रह्म न सद् है न असद् है, न सद्-असद्। यह निर्वाण अनुशासन है। वेदानुशासन है है। यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त हुआ।

बारहवें खण्ड में बताया है। नारायण से अन्न आया है। वह ब्रह्मलोक पक हुआ। फिर महासंवर्तक जो वायु है उसमें पका, फिर आदित्य में पका। फिर क्रव्यादि में पका, फिर जाल किलकिन्न पर्युषित होकर पका। इसलिये पवित्र और आयाचित, असंक्लृप्त अन्न को ही खाय। किसी से कभी याचना न करे।" इस प्रकार बारहवाँ खण्ड समाप्त हुआ।

अब तेरहवें खण्ड में परमहंस परिव्राजक की रहनी का वर्णन करते हुए बताया है कि संन्यासी बालकों की तरह रहे। बाल स्वभाव धारण करे। सदा असङ्ग रहे, विद्वान् होकर भी मौनी बना रहे। कैवल्य मुक्त पदवी को प्राप्त हो। महत्पद को जानकर भी वृक्ष के नीचे निर्वाह करे। फटे पुराने वस्त्रों को ही पहिने रहे। बिना किसी को सहायता लिये एकाकी निवास करे। सदा समाधिस्थ बना रहे। आत्मकाम, आप्तकाम, निष्काम, जीर्णकाम होकर रहे। हाथी, सिंह, मच्छर, न्योला, सर्प, राक्षस, गन्धर्व आदि को मृत्यु रूप जानकर भी कभी भयभीत न हो। वृक्ष की भाँति अचल बैठा रहे। कोई काट भी दे तो जैसे वृक्ष काटने वाले पर कुपित नहीं होता, वैसे कुपित न हो। भय के कारण कांपे भी नहीं। सत्य के सहारे बैठा ही रहे। क्योंकि यह आत्मा तो सत्य स्वरूप ही है। सब गन्धों की पृथ्वी हृदय है, सब रसों का जल, सब रूपों का तेज, सब स्पर्शों का वायु, सब शब्दों का आकाश, सब गतियों का अव्यक्त, सब सत्वों का मृत्यु हृदय है। जब उन परमात्म देव में एकीभूत हो जाता है, तब सत्, असत्, सदसत् कुछ भी नहीं रहता। यही निर्वाण अनुशासन है। यही वेदानुशासन है है। यहाँ तेरहवाँ खण्ड समाप्त होता है।

अब चौदहवें खण्ड में पृथ्वी का अन्न जल, जल का अन्न

ज्योति, ज्योति का वायु, वायु का आकाश, आकाश का इन्द्रियाँ, इन्द्रियों का मन, मन का बुद्धि, बुद्धि का अव्यक्त अव्यक्त का, अक्षर, और अक्षर का अन्न मृत्यु है। मृत्यु परमात्मदेव में लीन हो जाती है, वे किसी का भी अन्न नहीं। वे सत्, असत् तथा सदसत् कुछ भी नहीं हैं। यही निर्वाण अनुशासन है। यही वेदानुशासन है है।" यहाँ चौदहवाँ खण्ड समाप्त होता है।

पन्द्रहवें खण्ड में महर्षि रैक ने पूछा—"भगवन्! यह जो विज्ञानघन है जब वह उत्क्रमन करता है तो किस स्थान को दहन करता है?" तब भगवान् प्रजापति ने कहा—"यह उत्क्रमन करते समय प्राणों को दहन करता है। प्राण अपान को, अपान व्यान को, वह उदान को, समान को। फिर वैरम्भ, मुख्य, अन्तर्याम, प्रभञ्जन, कुमार, श्येन, श्वेत, कृष्ण तथा नाग नामक प्राणों को क्रमशः दहन करता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश को दहन करता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, महान् लोकों को दहन करता है लोकालोक को, धर्माधर्म को, भास्कर लोक को, अमर्यादित निरालोक को, महान्, अव्यक्त, अक्षर और मृत्यु को दहन करता है। मृत्यु जाकर परमात्म देव में एकीभूत होता है उससे आगे न सत् है न असत् और न सत्-असत्। यही निर्वाणअनुशासन है। यही वेदानुशासन है है। यहाँ पर पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त होता है।

अब अन्तिम सोलहवें खण्ड में पात्रता का वर्णन है। [illegible] सुवालोपनिषद् को कैसे पात्र को दे। प्रशान्त को दे। [illegible] पुत्र अथवा शिष्य न हो, जो एक वर्ष तक अपने पास [illegible], जिसका कुल, गोत्र, शील परिज्ञात न हो, ऐसे [illegible], न उसके सम्मुख कथन ही करे। जिसकी देवता [illegible] और जैसी देवता में भक्ति हो वैसी ही गुरु [illegible]

उसके सम्मुख महात्मा इसके अर्थों को प्रकाशित करते हैं। यही निर्वाण अनुशासन है, यही वेदानुशासन है है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार यह ज्ञान, वैराग्य और त्याग बहुल उपनिषद् संन्यास प्रधान है। उपनिषद् तो छोटी ही है, किन्तु इसमें ज्ञान वैराग्य और त्याग का सार भरा हुआ है। यह मैंने सुबालोपनिषद् का सार सुनाया। अब आगे आप क्षुरिका, मंत्रिका तथा सर्वसारोपनिषद् के सार को सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

नहिँ होवै भयभीत भयानक पशु आ जावै।
वृच्छ सारिस थिर रहै सहै सब नहिँ घबरावै॥
अजर अमर अरु अभय शोकतैं रहित आतमा।
है वह सबतैं परे वही है सब जगदात्मा॥
जातैं कोई पर नहीं, सबहिँ अच्छ जाके कहे।
आत्मा सो विज्ञानघन, सदा सर्वदा जो रहे॥

—o—

इति सुबालोपनिषद्-सार समाप्त

छुरिका, मन्त्रिका तथा सर्वसारोपनिषद् सार

[२६७]

क्षुरिकां संप्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये।
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तः स जायते ॥*

(क्षु० उ० १ म)

छप्पय

अब छुरिका उपनिषद् योग की ताहि बताऊँ।
जस करि प्राणायाम नमै तम सो समुझाऊँ॥
करिकें निरमल धार योग की छुरी बनाओ।
काटि सुषुम्ना बन्ध अमृत बनि मुक्त कहाओ॥
फेरि मन्त्रिका उपनिषद्, सांख्य योग, सम्मत सकल।
कही उपासन ब्रह्म की, बने ब्रह्म शाश्वत अमल॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम बताये हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये नियम बताये हैं। ये यम नियम सभी प्रकार के साधनों में

---

* अब क्षुरिका उपनिषद् को योग की सिद्धि के निमित्त कही हुई धारणा कहता हूँ। जिस धारणा को प्राप्त करके साधक योगयुक्त हो जाता है और फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

आवश्यक हैं। परमार्थ के जितने भी ज्ञान, योग, भक्ति, कर्मकांड आदि साधन हैं, उन सबमें यम-नियमों का पालन प्रथम सीढ़ी है। इनके पालन के बिना कोई परमार्थ साधन सिद्ध नहीं होता। अतः ये दोनों तो सभी क्षेत्रों में सार्वजनिक परमावश्यक साधन हैं।

योगमार्ग वाले इन दोनों के सहित अपने मार्ग को अष्टाङ्ग-योग कहते हैं। कुछ आचार्यों का मत है, कि ये यम नियम तो किसी एक साधना के अन्तर्गत हैं हो नहीं, समस्त साधनाओं में इनकी आवश्यकता होती है, अतः इन्हें योग के अंगों में क्यों गिनते हो। योग तो स्वतन्त्र मार्ग है, अतः वे योग के अंगों के रूप में आसन को प्रथम मानते हैं। १-आसन, २-प्राणायाम, ३-प्रत्याहार, ४-धारणा, ५-ध्यान, और ६-समाधि। इन ६ को ही योग का अंग मानकर उसे षडाङ्गयोग कहते हैं। उसमें भी १-आसन, २-प्राणायाम और ३-प्रत्याहार इन तीनों को वहिरङ्ग और १-धारणा, २-ध्यान और ३-समाधि इन तीनों को अन्तरङ्ग साधन कहते हैं। आसन, प्राणायाम आदि को तो व्यापारी भी पेट पालन करने के निमित्त सीखकर उसका प्रदर्शन करते फिरते हैं। अतः वे योग का आरम्भ धारणा से करते हैं। बढ़ी हुई धारणा का ही नाम ध्यान है, और ध्यान की परिपक्वता को ही समाधि कहते हैं। अतः योगमार्ग के अनुयायियों को धारणा की सिद्धि के ही लिये प्रयत्न करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं योग की क्षुरिका उपनिषद् के सार को आपसे कहूँगा। यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। 'पूर्णमदः' इत्यादि इसका शान्तिपाठ है। क्षुरिका छोटी छुरी को कहते हैं जैसे छुरी से रस्सी आदि काटी जाती हैं, इसी प्रकार अज्ञान रूपी रस्सी इस क्षुरिका उपनिषद् से काटी जा सकती है। वैसे तो यह उपनिषद् बहुत ही छोटी है। सम्पूर्ण उपनिषद्

में केवल २३ ही श्लोकात्मक मत्र हैं। किन्तु योग की दृष्टि से इसका महत्त्व बहुत अधिक है। आरम्भ में योगसिद्धि के लिये धारणा को बताने की प्रतिज्ञा की गयी है और उस धारणा का फल बताया है मुक्ति। यह वेदतत्त्वार्थ विहित उपनिषद् स्वयं ही ब्रह्माजी ने कही है।

योगमार्ग के साधक को ऐसे स्थान मे निवास करना चाहिये, जहाँ कोलाहल न हो। निःशब्द प्रदेश में रहकर किसी भी योग कथित भद्रासन या पद्मासन आदि आसन से बैठे। प्राणायाम करके इन्द्रियों को इस प्रकार प्रत्याहृत करे जिस प्रकार कछुआ अपने सभी अंगों को समेटकर स्थित होता है। इन्द्रियों को सब ओर से रोककर अपने मन को हृदय के मध्य में निरुद्ध करे। प्रणव की द्वादश मात्रा के योग से शनैः शनैः प्राणों का आयाम करे। पूरक कुम्भक करके अपने मन को भीतर की ओर निरोध कर ले। बाहर के प्राण निकलने के जितने मार्ग हैं, उन सबको यत्नपूर्वक अवरुद्ध कर ले। हृदय, मुख, कटि, ग्रीवा इन सबको एक सोध में रखकर स्थिर होकर बैठे, हृदय को किञ्चित उन्नत कर ले। नासिका के अभ्यन्तर में विचरण करने वाले प्राणों को भीतर ही संचारण करे। जब प्राण पूरक के द्वारा भीतर चले जायें तो उन्हें कुछ काल रोककर-कुम्भक करके-फिर शनैः-शनैः रेचक के द्वारा उन्हें उत्सृजन कर दे-निकाल दे। प्राणायाम की मात्रा को दृढ़ करके, अँगूठा के द्वारा समाहित करे। गुल्फ में दो मात्रा, जाँघों में तीन-तीन, जानुओं में और ऊरुओं मे दो-दो तथा गुदा में और शिश्न में तीन-तीन मात्रा मे वायु का आयतन स्थान करके पीछे नाभि स्थान में स्थापित करे। यहाँ पर सुषुम्ना नाड़ी बहुत-सी नाड़ियों में आवृत है। वे सब नाड़ियाँ बहुत ही अणु छोटी हैं। उनमें से कोई हलके लाल वर्ण की, कोई पीले,

काले, ताम्र तथा लोहित वर्ण की हैं। वे अत्यन्त ही सूक्ष्म हैं, तन्वी शुक्ला नाड़ी है उसके ये सब नाड़ियाँ समाश्रित हैं। इन नाड़ियों में प्राणों का संचार करे। वे नाड़ियाँ मकड़ी के जाले के तन्तुओं के सदृश हैं। उन नाड़ियों में जो लाल कमल के रंग की नाड़ी है पुरुषायतन के समान बड़ी है लम्बी है। वहीं हृदय कमल में एक स्थान है जिसे वेद वेदान्तों में 'दहर' कहा गया है। उस दहर को भेदकर जो नाड़ी कण्ठ में आई है उस नाड़ी में प्राणों को प्रविष्ट करना चाहिये। फिर मन रूपी छुरा को लेकर उसे बुद्धि की सान पर चढ़ा तीक्ष्ण—पैंनी—करके निर्मल बनाना चाहिये। पाद के ऊपर दबाकर उसके रूप नाम को काट देना चाहिये। तीक्ष्ण मनोद्वार के द्वारा नित्य ही योग का आश्रय लेना चाहिये। इस प्रकार काटने को इन्द्रवज्र कहते हैं—मर्मजंघा भी इसका नाम है। ध्यान के बल के योग से धारणा को भी काट देना चाहिये। ऊरु के मध्य में संस्थापित करके मर्म प्राणों का विमोचन करना चाहिये। इस प्रकार चारों अभ्यास के योग से निःशङ्क होकर उन नाड़ियों का छेदन करे। नीचे की नाड़ियों का छेदन करके योगी को चाहिये कण्ठान्तर में नाड़ियों का समूह है उनका भी छेदन करे। वहाँ पर एक सौ एक नाड़ियाँ हैं उनके बीच में सुषुम्ना सबसे श्रेष्ठ नाड़ी है। उसकी बाईं ओर से इड़ा रक्षा करे, दाईं ओर से पिंगला। इन इड़ा पिंगला के मध्य में ही सुषुम्ना है उस सुषुम्ना को जो जानता है वही वास्तव में वेदवेत्ता है। वह सुषुम्ना, विरजा तथा ब्रह्मरूपिणी है, वह परब्रह्म में लीन होती है। बहत्तर सहस्र नाड़ियों में यह सुषुम्ना इस प्रकार सुगन्ध द्वारा व्याप्त है जिस प्रकार तैत्तिल। अथवा जैसे मर्मः करणों में तैत्तिल करण सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार सुषुम्ना भी समस्त नाड़ियों में सर्वश्रेष्ठ है। उन बहत्तर सहस्र नाड़ियों

को ध्यान योग की छुरी से छेदन किया जा सकता है। एक सुषुम्ना का छेदन नहीं होता। योग के द्वारा निर्मल धार की हुई निर्मल तेज वाली छुरी से धीर पुरुष इसी जन्म में इन सौ नाड़ियों का छेदन करे। जाती पुष्प के योग से सुगन्धित शुभ्र जैसे तैल में व्याप्त होती है, उसी प्रकार शुभाशुभ भावों द्वारा उस नाड़ी को सुवासित करती है। इस सुषुम्ना में भावना दृढ़ होने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता है। जब विजित चित्त हो जाय, तब एकान्त निःशब्द देश में रहकर निःसंग तत्वज्ञ निरपेक्ष साधक शनैः-शनैः इन अज्ञान के पाश को काटकर मुक्त हो जाय। जैसे हंस फँसे हुए जाल को काटकर निर्विशङ्क होकर आकाश में उड़ जाता है। इसी प्रकार छिन्न पाश जीवात्मा संसार से तर जाता है। जैसे दीपक जब बुझने वाला होता है, तो तैल और बत्ती को जलाकर पूर्ण ज्योति में लय हो जाता है, वैसे ही योगी इस शरीर सम्बन्धी समस्त कर्मों को जलाकर परमात्म ज्योति में मिल जाता है। प्राणायाम की जो सुतीक्ष्ण मात्राधार है, उसे वैराग्यरूपी पत्थर पर घिसकर इन जगत् जाल के तन्तुओं को काट दे, तो वह संसारबन्धन में फिर नहीं बँधता।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने इस योग की छुरिका उपनिषद् का सार सुना दिया। अब आप मन्त्रिकोपनिषद् का सार श्रवण करें।"

मंत्रिकोपनिषद् में अव्यक्त ब्रह्म की उपासना है। एक पवित्र हंस है, उसके आठ पैर हैं, तीन सूत्र हैं, वह अणु—सूक्ष्म—तथा अव्यक्त है। उसके तीन मार्ग हैं, वह तेजस् और अहं स्वरूप है। वह सर्वत्र देखता हुआ भी नहीं देखता है। प्राणियों के सम्मोहन काल में जब रज और तम छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, तब सत्त्व में स्थित साधकगण अपने ही भीतर गुण गह्वर में उन

निर्गुण ब्रह्म को देखते हैं। वह ध्यानमात्र अन्य उपायों से दीखने में अशक्य होता है।

विकारों की जननी जो अविद्या है, अष्टरूपा है, अजा है और ध्रुवा भी है। उसी के अध्यास से उसी के द्वारा इस जगत् का ध्यान होता है, विस्तार होता है, तथा प्रेरणा प्राप्त होती है। यही माया पुरुषार्थ को पैदा करती है। उसी के द्वारा यह जगत् अधिष्ठित है। यह अनाद्यन्तवती गौ है, यह भूतभाविनी सबकी जनित्री है। यह काली, सफेद तथा रक्तवर्णा है, यह सर्वकामदुघा है। इस अविज्ञाता, अविषया को कुमार लोग पीते हैं। एक को स्वच्छन्द, वशानुगदेव पीते हैं, विभु जो भगवान् हैं वे भी हँसते हुए ध्यान और क्रिया द्वारा इसको भोगते हैं। यह सर्वसाधारणी-दोग्ध्री-गौ—यज्वाओं द्वारा पीयी जाती है। इस सुवर्ण और पिप्पली खाने वाले को महात्मागण ही देखते हैं। अध्वर्यु जो स्नातक हैं उसको उदासीन, हंस तथा ध्रुव कहकर गायन करते हैं। जो वेदशास्त्र कोविद पंडित हैं कहते हुए अनुशंसन करते हैं। रथन्तर, बृहत्साम, सप्तवैध जो सामवेद के भाग हैं उनके द्वारा इसका गायन किया जाता है।

पद क्रम समन्वित जो यह मन्त्रोपनिषद् ब्रह्म है इसे अथर्ववेद वाले भृगुवंशीय भार्गवऋषिगण पढ़ते हैं। ब्रह्मचारि वृत्ति वाले बहुत विस्तार के साथ देखते हैं। काल, प्राण, भगवान्, मृत्यु, शर्व, महेश्वर, उग्र, भव, रुद्र, देवताओं तथा असुरों के सहित, प्रजापति, विराट् तथा पुरुष इस सलिल स्वरूप आत्मा की अथर्व वेद के मन्त्रों द्वारा स्तुति करते हैं। इसको कोई छब्बीस तत्त्वों वाला कोई सत्ताईस तत्त्वों वाला कहते हैं। कोई-कोई इसे पुरुष, निर्गुण, सांख्य, अथर्व शिरा इन नामों से जानते हैं। कोई व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप इसे चौबीस तत्त्वों वाला कहते हैं॥

कोई-कोई अद्वैत को द्वैत कहते हैं। कोई तीन प्रकार का कोई पाँच प्रकार का कहते हैं। ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त जो भी कुछ जगत् में है, उसे ज्ञानी लोग ज्ञान चक्षु से देखते हैं। ब्राह्मण लोग उसी एक को परिशुभ्र तथा विभु रूप में देखते हैं। जिसमें यह समस्त स्थावर जंगम दृश्य जगत् ओत-प्रोत है उसी में अन्त में लय को प्राप्त हो जाता है, जैसे नदियाँ समुद्र में जाकर विलीन हो जाती हैं। जिसमें समस्त भाव प्रलीन हो जाते हैं, ऐसे ही ये सब भाव अव्यक्तता में लीन हो जाते हैं। फिर व्यक्तता में फिर देखे जाते हैं, जिस प्रकार जल में बुद्-बुद् दिखायी देते हैं। क्षेत्रज्ञ अधिष्ठित जो आत्मा है, वह अपने कारणों में पुनः विद्यमान रहता है। इसी प्रकार इन भगवान् देव को भी दूसरे लोग बार-बार देखते हैं। जो ब्राह्मण इस सबको ब्रह्म-ब्रह्म ही जानते हैं, ऐसे अव्यक्त शाली ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाते हैं। उनको दूसरे लोकों में जाना नहीं पड़ता, वे यहीं लीन हो जाते हैं। इस प्रकार यह ब्रह्मज्ञान परक मन्त्रिका उपनिषद् यहाँ समाप्त हुई। अब आप सर्वसार उपनिषद् का सार सिद्धान्त श्रवण करें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सर्वसार उपनिषद् अथर्ववेदीय है। इसका 'सहनाववतु' यह शान्ति पाठ है, यह बहुत ही छोटी चार गद्यात्मक मन्त्रों वाली है। इसमें सबसे पहिले यही पूछा गया है कि बन्ध क्या है, मोक्ष क्या है? विद्या–अविधा, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, ये क्या हैं? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश क्या हैं? कर्ता, जीव, क्षेत्रज्ञ, साक्षी, कूटस्थ, अन्तर्यामी ये क्या हैं? प्रत्यगात्मा, आत्मा तथा माया किसे कहते हैं? अब इन प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं।"

प्रश्न—बन्धन किसे कहते हैं?

उत्तर—आत्मेश्वर जो शुद्ध जीव है, जब यह देहादि अनात्म वस्तुओं में आत्म बुद्धि कर बैठता है और उनमें अपनेपन का अभिमान कर लेता है। इसी का नाम बन्धन है।

प्रश्न—मोक्ष किसे कहते हैं?

उत्तर—इन अनात्म पदार्थों में से अभिमान की निवृत्ति का नाम-मोह के क्षय का नाम-मोक्ष है।

प्रश्न—"अविद्या क्या है?"

उत्तर—"अनात्म पदार्थों में जो अहंता ममता पूर्वक अभिमान कर लेता है यही अविद्या है।"

प्रश्न—"विद्या क्या है?"

उत्तर—"जिसके द्वारा अहंता ममता का अभिमान निवर्त हो जाय वही विद्या है। जो मुक्ति का मार्ग दिखा दे।"

प्रश्न—"जाग्रत अवस्था किसे कहते हैं?"

उत्तर—"मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय इन चौदहों इन्द्रियों द्वारा पूर्ण रूप से इनके जो आदित्य आदि अधिष्ठातृ देवता हैं उनके द्वारा अनुग्रहीत और शब्द, रूप, रसादि जो इन्द्रियों के स्थूल विषय हैं, जब ये सब जीवात्मा को प्रत्यक्ष उपलब्ध हों उस अवस्था का नाम जाग्रत अवस्था है।"

प्रश्न—"स्वप्नावस्था किसे कहते हैं?"

उत्तर—"जब अन्तःकरण चतुष्टय वासना से रहित होने पर भी शब्द, रूप, रसादि स्थूल विषयों का अभाव होने पर भी वासनामय जो स्वप्न के शब्द, रूप रसादि हैं उन्हें जिस अवस्था में जीवात्मा उपलब्ध करता है उस अवस्था का नाम स्वप्नावस्था है।"

प्रश्न—"सुषुप्ति अवस्था किसे कहते हैं?"

उत्तर—"अन्तःकरण चतुष्टय और दश इन्द्रियाँ इन चौदहों के उपराम हो जाने पर, विशेष विज्ञान का अभाव होने से जो प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था है उसे सुषुप्ति कहते हैं।"

प्रश्न—"तुरीय अवस्था किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के भाव से स्वयं भाव साक्षी होने पर भाव तथा अभाव से रहित जो तीनों अवस्थाओं से परे की अवस्था है उसी का नाम तुरीयावस्था है। इस अवस्था में निरन्तर ब्रह्म के साथ ऐक्य रहता है।"

प्रश्न—"अन्नमय कोश किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अन्न के कार्यों के छैऊ कोशों का जो समूह है उस चैतन्य को ही अन्नमय कोश कहते हैं।"

प्रश्न—"प्राणमय कोश किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"प्राण, अपान आदि जो चौदह वायु के भेद हैं, वे जब अन्नमय कोश में वर्तते हैं उसी का नाम प्राणमय कोश है।"

प्रश्न—"मनोमय कोश किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अन्नमय और प्राणमय ये जो दो कोश हैं इनसे संयुक्त मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार युक्त आत्मा शब्द, रूप, रसादि विषयों को तथा संकल्प मनन आदि धर्मों को जब करता है, उसी का नाम मनोमय कोश है।"

प्रश्न—"विज्ञानमय कोश किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीनों कोशों से संयुक्त और तद्गत विशेष और अविशेष को जानने वाला आत्मा जब अवभासित होता है, वही विज्ञानमय कोश कहलाता है।"

प्रश्न—"आनन्दमय कोश किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन

चारों कोशों को स्वकारण ज्ञान में जैसे छोटे से वट के बीज में इतना बड़ा वटवृक्ष गुप्त रूप से सन्निहित रहता है वैसे ही इन चारों कोशों में जो गुप्तरीति से वर्तता है, वही आनन्दमय कोश है।"

प्रश्न—"कर्ता किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"बुद्धि के आश्रय से जो सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ देह के भीतर रहता है, वही कर्ता है। मनोनुकूल इष्ट विषय में सुख बुद्धि और मन के प्रतिकूल में दुःख बुद्धि। जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शों में सुख दुख की अनुभूति का कारण है।"

प्रश्न—"जीव किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"पुण्य पाप कर्मानुसारी होकर जो शरीर सन्धियोग को प्राप्त करके ऐसा समझता है कि मैंने शरीर संयोग प्राप्त ही नहीं किया है। जो शरीर में रहकर अपने को वही मानता है वह जीव है। (१) मन आदि अन्तःकरण, (२) समस्त प्राण समूह, (३) सत्त्वादि गुण, (४) इच्छा द्वेषादि वृत्तियाँ और (५) पुण्य पापादि इन पाँचों वर्गों का धर्मी होकर भूतात्मज्ञान के होने के अतिरिक्त जिसका कभी नाश नहीं होता है। आत्मज्ञान होने पर तो जीव का जीवत्व भाव नष्ट हो जाता है, किन्तु शरीर के नष्ट होने पर जो नाश न हो वही जीव है।"

प्रश्न—"क्षेत्रज्ञ किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"आत्मा की सन्निधि में नित्य रूप में प्रतीयमान जो आत्म की उपाधि और तल्लिङ्ग को तथा शरीर को हृदय ग्रन्थि कहते हैं। उस हृदय ग्रन्थि को जो प्रकाशित करता है उसी चैतन्य का नाम क्षेत्रज्ञ है।"

प्रश्न—"साक्षी किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के रूप जो त्रिपुरी है उसके आविर्भाव और तिरोभाव का जो ज्ञाता है और स्वयं जो आविर्भाव तिरोभाव से हीन है तथा जो स्वयं ज्योति स्वरूप है। वही साक्षी कहलाता है।"

प्रश्न—"कूटस्थ किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"ब्रह्मा से लेकर पिपीलिका पर्यन्त सभी प्राणियों की बुद्धि में आविष्टतया उपलभ्य मान वह जब सभी प्राणियों की बुद्धि में रहता है, तब उसी को कूटस्थ कहते हैं।"

प्रश्न—"अन्तर्यामी किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"कूटस्थ आदि जो उपहित भेद हैं उन सब भेदों का स्वरूप लाभ हेतु होकर, जैसे माला के सूत में समस्त मणियाँ पिरोई रहती हैं, वैसे ही जो सभी क्षेत्रों में-शरीरों में-अनुस्यूत होकर जब प्रकाशित होता है तब उसी आत्मा को अन्तर्यामी कहते हैं।"

प्रश्न—"प्रत्यगात्मा किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"सभी प्रकार की उपाधियों से विनिर्मुक्त, जैसे कंकण कुण्डल आदि नामों को त्यागकर केवल शुद्ध सुवर्ण ही रह जाता है, उसी प्रकार केवल विज्ञानघन चिन्मात्र स्वरूप आत्मा जब स्वतन्त्र रूप से अवभासित होने लगता है। तो 'तत्त्वमसि' के त्वं पदार्थ वाला वही प्रत्यगात्मा कहलाता है।"

प्रश्न—"परमात्मा किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"जो सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द स्वरूप ब्रह्म है वही परमात्मा है।"

प्रश्न—"सत्य क्या ?"

उत्तर—"अविनाशी का नाम सत्य है।"

प्रश्न—"अविनाशी क्या ?"

निरालम्ब, शुकरहस्य और वज्रसूचिक उपनिषद्-सार

(२६८)

नरालम्बं समाश्रित्य सालम्बं विजहाति यः।
स संन्यासी च योगी च कैवल्यं पदमश्नुते ॥*
(नि० उ० २ मं०)

छप्पय

निरालम्ब उपनिषद् मह्म ईश्वरहिँ बतावै।
कहा प्रकृति, परमात्म, विष्णु, अज, शिव, समुझावै॥
इन्द्र, चन्द्र, रवि, देव,, असुर, नर नारी, पशु जो।
वरन, जाति, अकरमहु, करम, अज्ञान, ज्ञान सो॥
सुख, दुख, नरकहु, स्वरग, तप, बन्ध, मोक्ष, विद्वान्, शिष।
असुर, उपास्यहु मूढ़, पद-परम, ग्राह्य, यति, देइ सिख॥

प्रश्नोत्तर रूप में जो सम्वाद निरूपण किये जाते हैं। उन्हें समझने में बड़ी सुविधा होती है, क्योंकि प्रश्न भी संक्षेप में किया जाता है और उत्तर देने वाला शक्ति भर उत्तर भी संक्षेप में ही

---

* जो योगी निरालम्ब का माश्रय ग्रहण करके सालम्ब का परित्याग कर देता है, वास्तव में वही सन्यासी है, वही योगी है, ऐसा निरालम्ब का आश्रय करने वाला योगी कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है।

देता है। इस प्रकार प्रश्न करने वाले को भी सुविधा होती है, व उत्तर देने वाले को भी सुविधा होती है तथा अन्यान्य श्रवण करने वालों को भी समझने में सुविधा होती है। बहुत-सी उपनिषदें, प्रश्नोत्तर रूप में ही हैं। पीछे जिस सर्वसार उपनिषद् का निरूपण कर आये हैं वह प्रश्नोत्तर रूप में ही थी और अब आगे जिस निरालम्ब उपनिषद् का सार बतावेंगे यह भी प्रश्नोत्तर रूप में ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! निरालम्ब उपनिषद् का पूर्णमदः यह शान्ति पाठ है। यह प्रश्नोत्तर रूप में है। आरम्भ में शिवजी को नमस्कार करके निरालम्ब उपनिषद् का प्रयोजन तथा इसका अधिकारी कौन है, इसका निरूपण किया गया है। फिर इसका फल बताया है। इस प्रकार विषय प्रयोजन सम्बन्ध अधिकारी तथा फल को बताकर फिर बहुत-से प्रश्न एक साथ ही कर दिये हैं। ब्रह्म क्या है? जीव तथा प्रकृति क्या है? इसी प्रकार परमात्मा, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, शमन, सूर्य, चन्द्र, देवता, असुर, पिशाच, मनुष्य, स्त्री, पशु, स्थावर, ब्राह्मणादि वर्ण, जाति, कर्म, अकर्म, ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुःख, स्वर्ग, नरक, बन्ध, मोक्ष, उपास्य, शिष्य, विद्वान्, मूढ़ आसुर, तप, परमपद, ग्राह्य, अग्राह्य तथा संन्यासी ये सब कौन हैं? इस प्रकार आशङ्का की गयी है। इन सबका उत्तर ब्रह्माजी ने स्वयं दिया है।"

प्रश्न—"ब्रह्म, क्या है?"

उत्तर—"महत्तत्व, अहंकार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशादि जो बृहत्रूप में यह ब्रह्माण्ड कोश है, तथा कर्मज्ञानार्थ रूप जो भासमान यह अद्वितीय अखिल उपाधि विनिर्मुक्त, सकल शक्ति, उपबृंहित, अनादि, अनन्त, शुद्ध, शिव, शान्त, निर्गुणादि

पदवाच्य तथा वास्तव में जो अनिर्वाच्य चैतन्य हैं उन्हीं की ब्रह्म संज्ञा है।"

प्रश्न—"ईश्वर किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"ब्रह्म ही अपनी प्रकृति नाम वाली शक्ति को आश्रय करके लोकों की सृष्टि करते हैं। इन लोकों की सृष्टि करके फिर इनमें अन्तर्यामी रूप से प्रवेश कर जाते हैं। ब्रह्मादिकों की बुद्धि तथा इन्द्रियों के नियन्ता और उनके स्वामी का ही नाम ईश्वर है।"

प्रश्न—"जीव किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा इन्द्रादि नाम रूप द्वारा मैं स्थूल हूँ ऐसा जिसे मिथ्या अध्यास हो जाय उसी की जीव संज्ञा है। यद्यपि 'अहम्' भाव से वह एक ही है, किन्तु देहारम्भक भेदों के कारण बहु जीव कहलाते हैं।"

प्रश्न—"प्रकृति किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"ब्रह्म के सकाश से नाना प्रकार के चित्र-विचित्र जगत के निर्माण करने वाली सामर्थ्य बुद्धि रूपा जो ब्रह्मशक्ति है उसी को प्रकृति कहते हैं।"

प्रश्न—"परमात्मा किसे कहते हैं ?"

उत्तर—देहादि से परतरत्व होने से ब्रह्म की ही परमात्मा संज्ञा हो जाती है। ब्रह्म जब देह का आश्रय ग्रहण कर लेता है, तो वही परमात्मा, वही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शमन, सूर्य, चन्द्र, देवता, असुर, पिशाच, मनुष्य, स्त्री, पशु, स्थावर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज तथा नाना नाम रूपों वाला हो जाता है। यह सब दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त नानात्व किंचित् भी नहीं है सब परमात्मा ही परमात्मा है।"

प्रश्न—"परमात्मा के साथ ही आपने ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र,

शमन, सूर्य, चन्द्र, देवता, असुर पिशाच, मनुष्य, स्त्री, पशु, स्थावर तथा ब्राह्मणादि समस्त वर्गों की व्याख्या करते हुए सबको ब्रह्ममय बता दिया। एक उत्तर में इन सबकी व्याख्या कर दी। अब आप जाति क्या है, यह बताइये ?"

उत्तर—देखो, जाति न तो चर्म, रक्त तथा मांस से ही होती है, न हड्डी से, न आत्मा से ही। जाति का सम्बन्ध केवल व्यवहार में ही कल्पित किया जाता है। व्यवहार में ही कहते हैं यह मनुष्य जाति है, यह पशु जाति है। मनुष्यों में ही यह ब्राह्मण जाति का यह क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जाति का है।"

प्रश्न—"अच्छा, कर्म किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"इन्द्रियों द्वारा अहंकार के वशीभूत होकर आध्यात्म निष्ठा से किये जाने वाले कर्मों को ही कर्म कहते हैं।"

प्रश्न—"अकर्म क्या है ?"

उत्तर—"कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि अहंकार के वशीभूत होकर बन्धन के कारण रूप जो जन्मादि कारण हैं और नित्य नैमित्तिक याग, व्रत, तप, दानादि कर्मों को फल की इच्छा से जो करते हैं, फलाभिसंधान पूर्वक इन कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, तो ये ही फल हेतु वाले कर्म अकर्म हैं।"

प्रश्न—"ज्ञान किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"देह और इन्द्रियों के निग्रह पूर्वक जो गुरु उपासना, श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा दृग दृश्य स्वरूप सर्वान्तरस्थ, सर्वसम, घटपटादि पदार्थ की भाँति अविकारों को विकार में केवल चैतन्य के बिना कुछ भी नहीं है ऐसे साक्षात् अनुभव का ही नाम ज्ञान है।"

प्रश्न—"अज्ञान क्या है ?"

उत्तर—"जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है उसी

प्रकार अद्वितीय, सर्वान्युस्यूत, सर्वमय ब्रह्म में यह देवता है, यह तिर्यङ् है,यह मनुष्य, स्थावर, स्त्री, पुरुष, वर्ण, आश्रम, बन्ध तथा मोक्षादि उपाधियों वाला नानात्म भेद की कल्पना रूप जो ज्ञान है अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त नानात्व की कल्पना ही अज्ञान है।"

प्रश्न—"सुख क्या है ?"

उत्तर—"सच्चिदानन्द स्वरूप को जानकर जो आनन्द रूपा स्थिति है उसी का नाम सुख है।"

प्रश्न—"दुःख किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अनात्मरूप विषय संकल्प ही दुःख है।"

प्रश्न—"स्वर्ग क्या है ?"

उत्तर—"अच्छे लोगों का संसर्ग अर्थात् सत्संग का ही नाम स्वर्ग है।"

प्रश्न—"नरक क्या है ?"

उत्तर—"असत् जो संसार विषयक संसर्ग है अर्थात् विषयी व्यक्तियों का संग ही नरक है।"

प्रश्न—"बन्ध किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"अनादि अविद्या वासना से उत्पन्न जो अहं इत्यादि संकल्प-अर्थात् मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, ऐसे अभिमान का ही नाम बन्ध है। बन्धन के अनेक और भी प्रकार हैं। ये मेरे माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, घर तथा खेत आदि मेरे हैं, इस प्रकार की ममता भी बन्धन है। क्योंकि यह ममता संसार आवरण का संकल्प है। कर्तृत्व का अहंकार संकल्प भी बन्ध है। अणिमा महिमादि जो अष्ट ऐश्वर्य वाली सिद्धियाँ हैं ये बन्ध रूपा हैं। देवता, मनुष्यादि उपासना,काम संकल्प भी बन्ध है। यम, नियम आदि जो अष्टाङ्ग योग हैं इनका संकल्प भी बन्ध है। याग,

व्रत, तपस्या, दान, विधि, विधान आदि का ज्ञान सम्भव यह भी बन्धन है। केवल मोक्ष की अपेक्षा का संकल्प भी बन्धन है। वर्ण, आश्रम, धर्म, कर्म संकल्प भी बन्धन है। आज्ञा, अभय, संशयात्मक संकल्प भी बन्ध ही है। कहाँ तक गिनावें संकल्प-मात्र सम्भव सभी कार्य बन्धन हैं। संकल्प करना ही बन्धन का कारण है।"

प्रश्न—"मोक्ष क्या है ?"

उत्तर—"नित्य, अनित्य वस्तु विचार से जो अनित्य संसार, सुख दुःख विषय समस्त क्षेत्र ममता जो बन्धन रूप है, उसका क्षय हो जाने को—मोह के क्षय को ही मोक्ष कहते हैं।"

प्रश्न—"उपास्य किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"सर्व शरीरस्थ चैतन्य ब्रह्म प्रापक जो गुरुदेव हैं वे ही उपास्य हैं।"

प्रश्न—"शिष्य किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"विद्याध्वस्त प्रपञ्च अवगाहित ज्ञानावशिष्ट जो ब्रह्म है वही मानों शिष्य है।"

प्रश्न—"विद्वान् किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"सर्वान्तरस्थ स्वसंविदरूप को जानने वाले का नाम ही विद्वान् है।"

प्रश्न—"मूढ़ किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"कर्तृत्वादि अभिमान से युक्त अहङ्कार भावारूढ़ व्यक्ति ही मूढ़ है।"

प्रश्न—"आसुर भाव किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तथा इन्द्रादि लोकपालों के ऐश्वर्य की कामना से, उपावास, जप, अग्निहोत्रादि कर्मों को करना तथा इनसे और अत्यन्त उग्र राग, द्वेष, विहिंसा दम्भादि

भावना से किये हुए तप से अपनी अन्तरात्मा को सन्तापित करने का ही नाम आसुरी भाव है।"

प्रश्न—"तप किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, यह जगत् मिथ्या है, इस प्रकार की अपरोक्ष ज्ञानाग्नि से ब्रह्मा आदिकों के ऐश्वर्य की आशा सिद्ध संकल्प बीज को संतापित करने का ही नाम वास्तव में तप है।"

प्रश्न—परमपद किसे कहते हैं ?

उत्तर—प्राण, इन्द्रियादि अन्तःकरण, गुण आदि से परतर जो सच्चिदानन्दमय, नित्यमुक्त ब्रह्म स्थान है उसी का नाम परम पद है।

प्रश्न—ग्राह्य किसे कहते हैं ?

उत्तर—देश, काल, वस्तु, परिच्छेदरहित चिन्मात्र स्वरूप वस्तु ही ग्राह्य है।

प्रश्न—"अग्राह्य किसे कहते हैं ?"

उत्तर—अपना जो स्वरूप है उसके व्यतिरिक्त मायामय जो बुद्धि इन्द्रिय गोचर जगत् है, उस जगत् का सत्य की भावना से चिन्तन करना ही अग्राह्य है।

प्रश्न—"संन्यास किसे कहते हैं ?"

उत्तर—"सर्व धर्मों को परित्याग करके निर्मम और निरहंकार होकर इष्ट स्वरूप ब्रह्म की शरण में जाकर 'तत्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेहनानास्ति किंचन' इत्यादि महावाक्यों के अर्थ के अनुभव ज्ञान से मैं ब्रह्म ही हूँ ऐसा निश्चय करके निर्विकल्प समाधि द्वारा स्वतन्त्र होकर जो यति विचरण करता है, वही संन्यासी है। वही मुक्त है। वही पूज्य है, वही योगी है, वही परमहंस है। वही अवधूत है, वही ब्राह्मण है।"

यही निरालब उपनिषद् है, इस उपनिषद् का जो अध्ययन करता है, वह गुरु के अनुग्रह से अभिपूत हो जाता है, वायु पूत हो जाता है। उसका फिर जन्म नहीं होता नहीं होता। वह फिर लौटकर नहीं आता-नहीं आता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने यह निरालम्ब उपनिषद् का सार आपको सुनाया। अब आप शुकरहस्य उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह शुकरहस्योपनिषद् यजुर्वेदाय उपनिषद् है। 'सहनाववतु' आदि इसका शान्ति पाठ है। यह उपनिषद् तीन खण्डों मे है। पहिले खण्ड में सब देवर्षिगण मिलकर ब्रह्माजी के पास गये और उनसे उपनिषद् तत्व सुनाने की प्रार्थना की।"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"देवर्षियो! ऐसी ही प्रार्थना पहिले वेदव्यासजी ने शिवजी से की थी। व्यासजी ने शिवजी से कहा—"भगवन्! मेरा पुत्र शुकदेव अब प्रणव और गायत्री मत्र के उपदेश का अधिकारो हो गया है उसे आप दीक्षा दे दें।

शिवजी ने कहा—"भाई, मुझसे दीक्षा मत दिलाओ।"

व्यासजी ने कहा—"क्यों भगवन्!"

शिवजी ने कहा—"मैं उसे कैवल्य रूप साक्षात् सनातन परब्रह्म का उपदेश दूँगा। उससे होगा क्या? कि वह सर्वस्व त्यागकर स्वतः प्रकाश स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर लेगा। ससार से वह परमविरक्त बन जायगा।"

व्यासजी ने कहा—"जो भी कुछ हो, दीक्षा आप ही दें। क्योंकि आप द्वारा दीक्षित होने से वह सर्वज्ञ हो जायगा और वह सायुज्य, सामीप्य, सारूप और सालोक्य चारों प्रकार की मुक्तियों को प्राप्त कर लेगा।"

भगवान् शंकरजी श्रीवेदव्यास के आग्रह को टाल नहीं सके, उन्होंने श्रीशुकदेवजी को प्रणव की दीक्षा दी। उस दीक्षा से कृतार्थ हुए शुकदेवजी ने श्रद्धा भक्तिपूर्वक भगवान् शंकरजी से प्रार्थना की—"भगवन्! मैं प्रणवात्म स्वरूप परब्रह्म का उपदेश पाकर कृतार्थ हो गया। अब आप कृपा करके 'तत्त्वमसि' आदि जो चारों महा वाक्य हैं उनका अंगन्यास करन्यास सुनावें।

यह सुनकर शिवजी ने शुकजी की बहुत प्रशंसा करते हुए कहा—"तुमने तो वेदों के छिपे रहस्य को ही पूछ लिया। यह रहस्योपनिषद् है। अब मैं तुम्हें षडङ्गन्यास सहित इन सबको बताऊँगा। इसे जान लेने से मुक्ति हो जाती है। जो इन महा वाक्यों का उपदेश करे उसे अङ्ग हीन वाक्यों का उपदेश नहीं करना चाहिये। जिस भी महावाक्य का उपदेश करे षड् अङ्गों के सहित ही करे। समस्त वेदों में उपनिषदों को श्रेष्ठ माना है और समस्त उपनिषदों में इस रहस्य उपनिषद् को सर्वोत्तम बताया है। किन्तु बिना ऋषि, छन्द, करन्यास, अंगन्यास के ज्ञान बिना महावाक्यों का जो फल सौ वर्षों तक विचार करने पर होता है, वह फल इन सबको जानकर केवल एक बार के जप से ही हो जाता है।"

सूतजी ने कहा—"ऋषियो! प्रत्येक मन्त्र का एक ऋषि होता है, उसका शिर पर न्यास करे। प्रत्येक मन्त्र का एक देवता होता है उसका हृदय में न्यास करे और प्रत्येक मन्त्र की छन्द पृथक् होती है, उस छन्द का मुख में न्यास करे। प्रत्येक मन्त्र का एक बीज होता है उस बीज से ही सम्पूर्ण मन्त्र का विस्तार होता है। प्रत्येक मन्त्र में एक प्रकार की शक्ति होती है, उसी शक्ति से मन्त्र शक्तिवान् होता है। प्रत्येक मन्त्र का एक कीलक होता है उसके द्वारा मंत्र बँधा रहता है। तो इस 'तत्त्वमसि'

महावाक्य रूप महामन्त्र का हंस तो ऋषि है, अव्यक्त गायत्री इसकी छन्द है। परमहंस देवता हैं, हं इसका बीज है। सः शक्ति है। सोऽहं कीलक है। परमहंस की प्रीति विषय में इस महावाक्य का विनियोग किया जाता है।

(१) नमः, (२) स्वाहा, (३) वषट्, (४) हुम्, (५) वौषट् और (६) फट्, इन छः वाक्यों द्वारा अँगूठा, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठका और करतल पृष्ठ इन छैः हाथ की उँगलियों में करन्यास और (१) हृदय, (२) शिर, (३) शिखा, (४) कवच, (५) नेत्र, और (६) अस्त्र, इन छैः अंगों में अंगन्यास किया जाता है। फिर एक मन्त्र से सब दिशाओं का दिग्बन्ध किया जाता है। तदनन्तर ध्यान करते हैं।

इस सिद्धान्त से 'तत्वमसि' महावाक्य के करन्यास अंगन्यास यों करें। पहिले करन्यास लीजिये। "सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म" इससे दोनों अंगुष्ठ को चतुर्थी का द्वितीयान्त पद लगाकर अन्त में नमः कहकर दोनों हाथों के अँगूठाओं पर न्यास करे।

'नित्यानन्दो ब्रह्म' द्वारा तर्जनीभ्याँ स्वाहा

'नित्यानन्दमयं ब्रह्म' द्वारा मध्यमाभ्यां वषट्

'यो वै भूमा' द्वारा अनामिकाभ्यां हुम्।

'यो वै भूमाधिपति' द्वारा कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्।

'एक मेवा द्वितीयं ब्रह्म' द्वारा करतल कर पृष्ठाभ्यां फट्

ये तो हो गये कर की उँगलियों के न्यास, अब ६ अंगों के न्यास भी इसी ढँग से करने चाहिये। जैसे—

'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' द्वारा हृदयाय नमः।

'नित्यानन्दो ब्रह्म' द्वारा शिर से स्वाहा।

'नित्यानन्दमयं ब्रह्म' द्वारा शिखायै वषट्।

'यो वै भूमा' द्वारा कवचाय हुम्।

'यो वै भूमाधिपतिः' द्वारा नेत्रत्रयाय वौषट्।
'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' अस्त्राय फट्। और 'भूर्भुवः सुवरोम्' इसके द्वारा दिग्बन्ध करे। फिर इस प्रकार ध्यान करे—

छप्पय

नित्यानन्द स्वरूप परम सुख देवे वारे।
केवल हो तुम ज्ञान-मूर्ति द्वन्द्वनि तैं न्यारे॥
गगन सरिस हो व्याप्त तत्व मस्यादि लक्ष्य हो।
एक नित्य हो विमल, अचल सबधी साक्षी हो॥
तुम हो भावातीत प्रभु, तीनिहु गुनतैं रहित हो।
गुरु के गुरु सद्गुरु विभो, नमस्कार के योग्य हो॥*

यहाँ आकर शुकरहस्योपनिषद् का प्रथम खण्ड समाप्त होता है।

अब द्वितीय खण्ड में "तत्त्वमसि" महावाक्य में जो तत्, त्वम्, असि ये तीन पद हैं उन तीनों पदों के पृथक-पृथक् षड-अङ्गन्यासों को बताते हुए कहा है-प्रणव सहित पहिला महावाक्य 'प्रज्ञान ब्रह्म' द्वितीय 'अहं ब्रह्मास्मि' तृतीय 'तत्त्वमसि' और चतुर्थ 'अयमात्मा ब्रह्म' इन चारों के आदि में प्रणव है। प्रथम महावाक्य का जो जीव ब्रह्म का अभेद वाचक है उसका जप करते हैं वे शिव सायुज्य मुक्ति के अधिकारी होते हैं।

अब तत् पद के परमहंस तो ऋषि हैं, अव्यक्त गायत्री छन्द है, परमहंस देवता हैं, हं बीज है, सः शक्ति है, सोऽहं कीलक है

---

* नित्यानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्॥
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम्।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

सायुज्य मुक्ति में इसका विनियोग होता है। इस तत्त्वमसि के तत् शब्द का करन्यास इस प्रकार करे—

१—'तत्पुरुषाय' द्वारा—अंगुष्ठाभ्यां नमः।
२—'ईशानाय' द्वारा तर्जनीभ्यां स्वाहा।
३—'अघोराय' द्वारा मध्यमाभ्यां वषट्।
४—'सद्योजाताय' द्वारा अनामिकाभ्यां हुम्।
५—'वामदेवाय' द्वारा कनिष्ठिकाभ्यां वौषट।
६—'तत्पुरुषेशानाघोर सद्योजात वामदेवेभ्यो नमः' द्वारा—करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

इसी प्रकार अङ्गन्यास भी करे—जैसे—

१—'तत्पुरुषाय' द्वारा हृदयाय नमः
२—'ईशानाय' द्वारा शिर से स्वाहा।
३—'अघोराय' द्वारा शिखायै वषट।
४—'सद्योजाताय' द्वारा कवचाय हुम्।
५—'वामदेवाय' द्वारा नेत्रत्रयाय वौषट
६—'तत्पुरुषेशानाघोर सद्योजात वामदेवेभ्यो नमः' द्वारा अस्त्राय फट्।

इस प्रकार अङ्गन्यास करके 'भूर्भुवः सुवरोम्'। द्वारा दिग्बन्धन करे। तब इस प्रकार ध्यान कर—

छप्पय

साधन जो हैं ज्ञान ज्ञान के विषय कहावें।
ज्ञानगम्यता परे शुद्ध अरु बुद्ध बतावें॥
अव्यय मुक्त स्वरूप सत्य के रूप ज्ञानमय।
रूप सच्चिदानन्द कहें जिनिकूँ प्रकाशमय॥

करै ध्यान एकाग्र ह्वै, दिव्य तेज के पुंज जो।
भ्राजमान, भगवान्, सत, चित् स्वरूप आनन्द जो॥*

अब तत्त्वमसि महावाक्य के दूसरे पद त्वम् के भी ऋषि, छन्द, देवता तथा करन्यास अंगन्यासों को जाने। जैसे 'त्वम्' जो महावाक्य का दूसरा पद है उसके ऋषि तो विष्णु हैं, छन्द गायत्री है, देवता परमात्मा हैं, ऐं इसका बीज है, क्लीं शक्ति है, सौः कीलक है और अपनी मुक्ति के सम्बन्ध में इसका विनियोग है। अब करन्यास बताते हैं—

१—'वासुदेवाय' द्वारा अंगुष्ठाभ्यां नमः।

२—'संकर्षणाय'—द्वारा तर्जनीभ्यां स्वाहा।

३—'प्रद्युम्नाय'—द्वारा मध्यमाभ्यां वषट्

४—'अनिरुद्धाय' द्वारा अनामिकाभ्यां हुम्

५—'वासुदेवाय' द्वारा कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्।

६—वासुदेव संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धेभ्य करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

इसी प्रकार इन्हीं मन्त्रों से हृदयादि अंगन्यासों को भी करना चाहिये। और 'भूर्भुवः सुवरोम्' इससे दिग्बन्ध करना चाहिये। फिर ध्यान करे।

दोहा

जीवतत्त्व बोधक सकल, सर्वाखण्डहु विग्रह।
अहंकार चित नियन्ता, त्वं पद जीवहु जाइ कह॥[१]

---

* ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यादतीतम्,
शुद्धं बुद्धं मुक्तमप्यव्ययं च।
सत्यं ज्ञानं सच्चिदानन्दरूपम्
ध्यायेदेवं तन्महो भ्राजमानम्॥

[१] जीवत्वं सर्वभूतानां सर्वत्राखण्ड विग्रहम्।
चित्ताहङ्कारयन्तारं जीवाख्यं त्वं पदं भजे॥

'तत्' और 'त्वम्' पद के ऋषि, देवता, छन्द, अंगन्यास, करन्यासादि कहकर अब तीसरा जो 'असि' पद है उसके भी इन सबको कहते हैं।

इस 'असि' पद महामंत्र के मन तो ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, अर्धनारीश्वर देवता हैं, अव्यक्तादि बीज है, नृसिंह शक्ति है, परमात्मा कीलक है। जीव ब्रह्म की एकता के निमित्त जप में इसका विनियोग है। इसके करन्यासों को भी सुनिये।

१—'पृथ्वीद्व्यणुकाय' द्वारा अंगुष्ठाभ्यां नमः

२—'अब्द्व्यणुकाय' द्वारा तर्जनीभ्यां स्वाहा।

३—'तेजो द्व्यणुकाय' द्वारा मध्यमाभ्यां वषट्।

४—'वायु द्व्यणुकाय' द्वारा अनामिकाभ्यां हुम्।

५—'आकाश द्व्यणुकाय' द्वारा कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्।

६—'पृथिव्यप्ते जोवाय्वाकाश द्व्यणुकेभ्यःकरतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

इस प्रकार अंगन्यास इन्हीं मन्त्रों से करे।

उसी 'भूर्भुवः स्वरोम्' से दिग्बन्ध करना चाहिये। फिर ध्यान करे।

दोहा

मनथिति जब तक तबहिँ तक, जीव ब्रह्म हैं एक।
मन को लय ह्वै जाइ जब, इक असि पद नित टेक॥

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार शुकरहस्य उपनिषद् का यहाँ द्वितीयखण्ड समाप्त होता है। अब तृतीय खंड और श्रवण कीजिये।"

तृतीय खंड में जो चारों महावाक्य हैं, उनकी पदविन्यास पूर्वक व्याख्या करते हुए बताया गया है, कि प्रज्ञान क्या है?

इसका उत्तर दिया है—"जिसके द्वारा देखता, सुनता, सूँघता,

कहता तथा स्वादु अस्वादु को जानता है, उसी का नाम प्रज्ञान है।"

प्रश्न—"प्रज्ञान ब्रह्म क्या है ?"

उत्तर—"चतुर्मुख ब्रह्मा, इन्द्र, देवता, मनुष्य, अश्व तथा गौ आदि समस्त प्राणियों में एक ही चैतन्य तत्त्व ब्रह्म है। वहीं प्रज्ञान ब्रह्म है, वह ब्रह्म मुझमें भी है।"

प्रश्न—"अहं ब्रह्म अस्मि का तात्पर्य क्या है ?"

उत्तर—"पहिले अहं का अर्थ समझो। परिपूर्ण परमात्मा ही इस देह में विद्या के अधिकारी जो साधक-मानव रूप में है-और बुद्धि के साक्षी रूप स्थित होकर जो स्फुरित होता है। उसी के लिये अहं शब्द व्यवहृत होता है। अब ब्रह्म क्या है ? तो कहते हैं—"स्वतः पूर्ण जो परा आत्मा है वही यहाँ ब्रह्म शब्द से लिया गया है। फिर 'अस्मि' का क्या तात्पर्य है ? कहते हैं—"अस्मि का अर्थ है 'हूँ'। यह अस्मि शब्द ब्रह्म और अहं की एकता का द्योतक है। इस पूरे वाक्य का अर्थ हुआ मैं ब्रह्म हूँ। यह तो 'अहं ब्रह्मास्मि' दूसरे महावाक्य की पद विन्यास पूर्वक व्याख्या हुई। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य की भी व्याख्या सुनिये।"

'तत्त्वमसि' में भी तत्, त्वं, असि ये तीन पद हैं। तत् पद का तात्पर्य क्या है ? सृष्टि के पूर्व केवल वही-ही-वही था, वहाँ द्वित्व की गन्ध भी नहीं थी। बस, एक ही नाम रूप से रहित अद्वितीय सत्ता थी, अब भी है और आगे भी ज्यों-की-त्यों रहेगी ही। तत् पद का अर्थ हुआ त्रिकालाबाधित अद्वय सत्ता। अब 'त्वम्' पद का तात्पर्य क्या है ?"

उत्तर—"महावाक्य में 'त्वम्' पद है उसका तात्पर्य है जो

शिष्य उपदेश श्रवण करता है, और जो देह तथा इन्द्रियों से अतीत है, वही 'त्वम्' पदवाच्य है।"

प्रश्न—"अच्छा, फिर 'असि' पद का तात्पर्य क्या है ?"

उत्तर—"असि का अर्थ है 'हो' अर्थात् जो तत्-वह-है-वह त्वं-तुम हो असि-हो-अर्थात् त्वम्-का जो बोध्य ब्रह्म हो वही-त्वं-जीव हो-भाव यह कि जीव और ब्रह्म की एकता का बोधक 'असि' शब्द है। यह तो पहिले महावाक्य की व्याख्या हुई। अब 'अयमात्मा ब्रह्म' इसकी भी पदविन्यासपूर्वक व्याख्या सुनिये।"

अयमात्मा ब्रह्म में 'अयम्' 'आत्मा' और 'ब्रह्म' तीन पद हैं। 'अयम्' का भाव है स्वतः प्रकाश अपरोक्ष-अर्थात् नित्य प्रत्यक्ष स्वरूप। अब 'आत्मा' प्रत्यगात्मा समझना चाहिये। अहङ्कार से लेकर-अन्तःकरण, इन्द्रियाँ, तन्मात्रायें, इन्द्रियाधिष्ठित देव, पञ्चभूत अर्थात् अहङ्कार से शरीर पर्यन्त जो है वही प्रत्यगात्मा है। अर्थात् अयम्-यह-आत्मा-प्रत्यगात्मा-ब्रह्म ही है। अब प्रश्न यह है—"कि ब्रह्म क्या ?"

इस जगत् में चर-अचर, स्थावर-जङ्गम, तृण से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त जो भी कुछ है, उन सबमें समान रूप से जो व्यापक तत्त्व है उसी को 'ब्रह्म' शब्द से कहा गया है।

भाव यह है 'असि' पद के द्वारा भाग-त्याग लक्षणा से जीव और ब्रह्म की एकता का वर्णन इस महावाक्य में है।

वास्तव में कार्य कारण उपाधि के ही कारण जीव और ब्रह्म दो दृष्टिगोचर होते हैं। कारण-रूप जो उपाधि है, जिसे माया कहो उसे हटा देने से केवल ब्रह्म ही ब्रह्म अवशेष रह जाता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा ही पूर्ण बोध हुआ है। लोक में और भी विधायें कही जाती हैं उनका सम्यक

भी नश्वर है। एकमात्र ब्रह्मविद्या ही शाश्वत और अविनाशी है, उसी के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। भगवान् ब्रह्माजी ने आज्ञा दी है, कि सद्गुरु का कर्त्तव्य है, वह शिष्य को षडाङ्ग सहित ही इन महावाक्यों का उपदेश करे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार भगवान् शंकर ने परमहंस शुकदेवजी को महावाक्यों द्वारा ब्रह्म का उपदेश किया।"

तदनन्तर उन्होंने शुकदेवजी से कहा—"मुनिवर शुकदेव ! मैंने तुम्हारे पूज्य पिता की आज्ञा से तुम्हें अत्यन्त रहस्यमय उपदेश किया ? तुम इसका ध्यान करते हुए परमहंस जीवंमुक्त होकर विचरण करोगे। देखो, यह जो ब्रह्म का वाचक प्रणव है, इस स्वर को वेद मन्त्रों के आदि में लगाते हैं।

इस प्रणव में 'अ' 'उ' और 'म्' ये त्रिमात्रा हैं, ये तीन मानों त्रिगुणात्मा प्रकृति हैं, उससे परे जो अर्धमात्रा है उसमें जब प्रकृति लीन हो जाती है, तो वही वेदान्त वेद्य, ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा महेश्वर है।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! इस प्रकार शिवजी द्वारा उपदेश प्राप्त करके, श्रीशुकदेवजी जगत में तन्मय हो गये। अर्थात् संसार के सभी पदार्थों में अपने को देखने लगे। जब वे उपदेश से कृतार्थ हो गये, तब उन्होंने उठकर शिवजी को साष्टाङ्ग प्रणाम किया, फिर सर्वस्व का त्याग करके सच्चिदानन्द परब्रह्म स्वरूप जो परमानन्द का समुद्र है उसमें मानों तैरने लगे। वे समस्त परिग्रहों का परित्याग करके वन की ओर चल दिये।"

अपने पुत्र को परमहंसावस्था में सर्वस्व त्यागकर जाते देखकर पुत्र के विरह से कातर व्यासजी 'पुत्र-पुत्र' कहते हुए उनके पीछे-पीछे दौड़े। तब समस्त स्थावर जङ्गम चर-अचर जीवों ने

उनका प्रतिनन्दन किया। अर्थात् सबने अपने को शुक समझकर व्यासजी को हाँ कहकर उत्तर दिया।

तब सत्यवती सुत भगवान् कृष्णद्वैपायन महामुनि व्यास ने समझा मेरा पुत्र सकलाकार हो गया है। अर्थात् सम्पूर्ण जगन्मयता को प्राप्त हो गया है। यह सोचकर वे अपने पुत्र सहित परमानन्द को प्राप्त हुए।

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! यही शुक रहस्योपनिषद् है। जो इसे गुरु कृपा से अध्ययन करेंगे, वे सर्व पापों से विनिर्मुक्त होकर साक्षात् कैवल्य पद को प्राप्त करेंगे। इस प्रकार मैंने यह परम रहस्यमय श्रीशुकरहस्य उपनिषद् का सार आप सबको सुनाया। अब आप सब कृपा करके वज्रसूचिका नाम की उपनिषद् के सार को श्रवण करें।"

वज्रसूचिका उपनिषद् का 'आप्यायन्तु' इत्यादि शान्ति पाठ है। यह छोटी-सी उपनिषद् है। इसमें सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया गया कि चारों वर्णों में ब्राह्मण को ही वेद शास्त्रों में प्रधान माना गया है, तो वास्तव में ब्राह्मणत्व है किसमें। क्या जीव ब्राह्मण है, अथवा देह, जाति, ज्ञान, कर्म अथवा धार्मिकपन ब्राह्मण है। ऐसा प्रश्न करके इन सबका एक-एक करके निराकरण करते हैं।

अच्छा, यदि आप जीव को ब्राह्मण मानते हैं तो यह हो नहीं सकता। क्योंकि जीव तो बहुत-सी योनियों को भोग चुका है, आगे भी बहुत-सी योनियों को भोगने वाला है। सभी योनियों में जीव तो एक ही रहता है। योनियों के साथ जीव तो बदलता नहीं। वह तो कर्मानुसार अनेक देहों में जाता आता रहता है। सभी शरीरों में एक ही जीव होने से जीव ब्राह्मण नहीं हो सकता।

अच्छा, तो देह ब्राह्मण होगी, सो भी सम्भव नहीं, यदि आप शरीर को ब्राह्मण मानें तो यह भी सम्भव नहीं। सभी शरीर पंचभूतों के ही बने होते हैं, शरीर एक ही भाँति बढ़ते हैं, बाल युवक बूढ़े होते तथा मरते हैं। यह भी बात नहीं ब्राह्मण शरीर गोरा ही हो, क्षत्रिय रक्त, वैश्य पीत और शूद्र काले ही वर्ण के हों, बहुत से ब्राह्मण काले और शूद्र गोरे देखे जाते हैं। इससे शरीर ब्राह्मण नहीं। यदि शरीर ही ब्राह्मण होता तो मरने पर पुत्र पिता के शरीर को जलाता है तो उसे ब्रह्महत्या का पाप लगना चाहिये। वह भी नहीं लगता, इससे प्रतीत होता है शरीर ब्राह्मण नहीं।

अच्छा, तो जाति में ब्राह्मणत्व होगा ? सो भी सम्भव नहीं। क्यों कि जात्यन्तर व्यक्ति अनेक जातियों के होते हैं। महर्षियों में ही देखिये ऋष्यश्रृङ्ग हिरनी से हुए थे, वे हरिण जाति के नहीं कहाये। कौशिक मुनि कुशाओं से हुए, जाम्बूक मुनि जम्बूक से, वाल्मीक बल्मीक से, व्यास मल्लाह जाति की लड़की से, शशपृष्ठ से गौतम, उर्वशी से वसिष्ठ, कलश से अगस्त्य, ये भिन्न-भिन्न जाति की माताओं से उत्पन्न होने पर भी ज्ञान प्रतिपादित ऋषि ही कहलाये। अतः जाति के कारण भी ब्राह्मणत्व नहीं।

अच्छा तो ज्ञान के कारण ब्राह्मण होते होंगे ? सो भी संभव नहीं। क्यों कि बहुत से क्षत्रिय भी ऐसे परमार्थदर्शी ज्ञानी हो गये हैं। जिनके पास ऋषि महर्षि तक ज्ञान सीखने जाते थे। इससे सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणत्व में ज्ञान भी कारण नहीं है।

अच्छा, तो कर्म के कारण ब्राह्मण होते होंगे ? सो भी संभव नहीं। क्यों ? कि सभी प्राणी प्रारब्ध कर्मों को संचित कर्मों द्वारा प्राप्त करके आगे के कर्मों को प्रारब्धानुसार ही करते हुए देखे

गये हैं। इससे कर्म ब्राह्मणत्व में कारण नहीं हो सकते।

अच्छा, तो धार्मिकपना यह ब्राह्मण होगा? सो भी सम्भव नहीं? क्योंकि ब्राह्मणों से अधिक क्षत्रिय धार्मिक होते हैं। वह अगणित सुवर्ण मुद्रा, गौ, भूमि आदि का दान करते हैं। इतने धार्मिक होने पर भी वे क्षत्रिय ही कहाते हैं। उन्हें कोई ब्राह्मण नहीं कहता।

अच्छा, तो आप ही बताइये ब्राह्मण कौन है?

कहते हैं—"देखो, जो कोई अद्वितीय आत्मा को, जो आत्मा जाति, गुण तथा क्रिया से हीन है। जो षडूर्मि, षड्भाव इत्यादि सर्व दोषों से रहित है। जो सत्य, ज्ञान, आनन्द तथा अनन्त स्वरूप है। स्वयं निर्विकल्प अशेष कल्पाधार अशेष भूतान्तर्यामी होने से अन्तर बाहिर आकाशवत अनुस्यूत है, जो अखण्ड आनन्द स्वभाव में सदा वर्तमान है, जो अप्रमेय है, एकमात्र अनुभव द्वारा ही जानने योग्य है, जो अपरोक्ष होने से सर्वत्र भासमान है, ऐसे आत्मतत्व को जिन्होंने करामलकवत साक्षात्कार कर लिया है और ब्रह्म साक्षात्कार के कारण जो कृतार्थ हो चुके हैं, जो काम, रागादि दोषों से रहित हैं, जो शम दमादि सद्गुणों से सम्पन्न हैं, जो भाव, मात्सर्य, तृष्णा, आशा, मोहादि दुर्गुणों से रहित हैं जिनका चित्त दम्भ, अहङ्कारादि दुर्गुणों में लिपायमान नहीं है। ऐसे लक्षणों से जो युक्त हैं वे ही ब्राह्मण हैं। ऐसा ही श्रुति, स्मृति, पुराण तथा इतिहासादि शास्त्रों का अभिप्राय है। इसके अतिरिक्त किसी भी कारण से ब्राह्मणत्व की सिद्धि सम्भव नहीं। अतः सच्चिदानन्द, आत्मा जो अद्वितीय ब्रह्म है उसकी अपनी आत्मा में भावना करनी चाहिये। सच्चिदानन्द ब्रह्म की ही आत्मा में भावना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने वज्रसूचिकोपनिषद् का सार आपको सुनाया। इस प्रकार निरालम्ब, शुकरहस्य, वज्रसूचिका इन उपनिषदों का सार सुनाकर अब आपको तेजोबिन्दु उपनिषद् का सार सुनाऊँगा। यह उपनिषद् बड़ी है।"

छप्पय

(१)

शुक रहस्य उपनिषद् महावाक्यनि व्याख्या है।
षडन्यास कर अङ्ग बतायी पद संख्या है॥
पृथक पृथक जो न्यास प्रणव को अर्थ बतायो।
व्यास विनयतैं रुद्र शुकहिं सब रहस जतायो॥
है कृतार्थ शुक बन चले, व्यास बुलावत मोह बस।
प्रत्युत्तर चर अचर 'हाँ' दयो भये शुक सकल अस॥

(२)

वज्रसूचि उपनिषद् विप्र को भेद बतायो।
जीव, जाति, तन, ज्ञान, कर्म नहिं विप्र कहायो॥
विप्र कौन? जो ब्रह्म परात्परकूँ नित जाने।
सब सद्गुण सम्पन्न दुर्गुननि विषवत माने॥
वेद, शास्त्र, इतिहास सब, करें घोषणा एक स्वर।
निजहिं सच्चिदानन्दमय, करै भावना विप्रवर॥

इति निरालम्ब, शुक रहस्य, वज्रसूचिकोपनिषद्
सार समाप्त

तेजोबिन्दु-उपनिषद्-सार

[२६६]

तेजोबिन्दुः परं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम् ।
आणवं शांभवं शान्तं स्थूलं सूक्ष्मं परं च यत् ॥*

(ते० बि० उ० १ अ० १म०)

छप्पय

तेजबिन्दु के अंग कहे यम, नियम, त्याग पुनि ।
मौन, देश अरु काल, सु-आसन, मूलबन्ध सुनि ॥
देहसाम्य, दृगथिती, प्राण संयम कुम्भादी ।
प्रत्याहार-विचार, धारणा, ध्यान समाधी ॥
इन सबकूँ ही ब्रह्ममय, ब्रह्मभावतें सिद्ध करि ।
ब्रह्मसत्य जग असत् लखि, तेज बिन्दु को ध्यान धरि ॥

समस्त वेद उपनिषद् तथा अन्यान्य शास्त्रों में प्रणव की बड़ी महिमा गायी गयी है। मन को किसी भी प्रतीक पर स्थिर करके एकाग्र कर ले तो चित्त की चञ्चलता मिट जायगी। यह मन एकाग्र नहीं होता, निरन्तर चञ्चलता ही करता रहता है,

---

* विश्वात्म हृदयाकाश में संस्थित जो तेजोबिन्दु का पर ध्यान है उसे करना चाहिये। वह कैसा ध्यान है? वह आणव है अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्म साधनों से साध्य है। वह शाम्भव है—अर्थात् इस ध्यान से शिवस्वरूपता प्राप्त होती है। शान्ति को प्रदान करने वाला, स्थूल, सूक्ष्म दोनों से परे है।

चित्त की वृत्तियाँ बिखरी ही रहती हैं। उन बिखरी वृत्तियों के निरोध का ही नाम योग है। अतः जैसे तैसे किसी भी प्रकार मन को एकाग्र किया जाय। तेजविन्दु उपनिषद् में प्रणव स्वरूप जो तेजोमय विन्दु है उसके ध्यान की महिमा बतायी है और यह भी बताया है कि उसके ध्यान का कौन अधिकारी है और कौन अनधिकारी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं तेजोविन्दु उपनिषद् का सार आपको सुनाता हूँ। यह उपनिषद् बड़ी है। यह कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषद् है। 'सहनाववतु' आदि इसका शान्ति पाठ है। इसमें ६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में तेजोमय विन्दु के ध्यान की महिमा बताते हुए कहा है–बुद्धिमान मुनियों के लिये भी उस विन्दु के ध्यान की साधना बड़ी कठिन है। इस ध्यान को अन्त तक निभा लेना अत्यन्त कठिन है।

इस मार्ग के साधक को सदा सभी प्रकार के दुर्गुणों से दूर रहना चाहिये। मिताहारी होकर, सभी प्रकार के संग्रहों का परित्याग करके, निरन्तर गुरु सेवा में ही सदा संलग्न रहना चाहिये। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के अभिमान को त्यागकर लोभ, मोह, भय, दर्प, काम, क्रोध, पाप, शीत-उष्ण, क्षुधा, पिपासा, संकल्प-विकल्प इन सब पर विजय प्राप्त करके ब्रह्म में तत्पर होकर इस ध्यान को करना चाहिये।

अब इस तेजोविन्दु ध्यान के अंग बताते हैं। (१) यम, (२) नियम, (३) त्याग, (४) मौन, (५) देश, (६) काल, (७) आसन (८) मूलबन्ध, (९) देहसाम्य, (१०) दृक्स्थिति, (११) प्राणायाम, (१२) प्रत्याहार, (१३) धारणा, (१४) आत्मध्यान और (१५) समाधि। ये १५ इसके अंग हैं। अब इनकी व्याख्या सुनिये।

(१) यम किसे कहते हैं? जिसमें इन्द्रियों को संयम करके

'सर्वं ब्रह्मेति' यह जो भी कुछ है सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, इस ज्ञान को दृढ करे इसी का नाम यम है, इसी का बारम्बार अभ्यास करना चाहिये।

(२) अच्छा, नियम किसे कहते हैं? सजातीय जो आत्मानुवृत्ति है उसके तो प्रवाह में रहे और विजातीय जो संसारिक वृत्ति है उसका तिरस्कार करता रहे, यही परानन्दमय नियम है। बुद्धिमान साधक को इस नियम को निरन्तर करते रहना चाहिये।

(३) त्याग क्या? महत्पुरुषों में पूज्य भाव रखना उनके प्रति अपूज्यता के भाव का सर्वथा त्याग ही मोक्षदायक भाव त्याग कहलाता है।

(४) मौन क्या? जहाँ जाकर वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ मन के सहित लौट आती हैं, उसी ब्रह्म का सदा भजन करना इसी का नाम मौन है। आप सोचें जहाँ से वाणी बिना कुछ कहे लौट आती है, उसका कथन फिर किससे करें? यदि कहें प्रपञ्च से दूर रहे, तो यह भी तो नहीं कह सकते क्योंकि ब्रह्म तो शब्द से विवर्जित है। इसलिये सहज भाव से ब्रह्ममय रहना यही मौन है। बहुत से लोग वाणी से न बोलने को मौन कहते हैं। यह तो बच्चों का मौन है। ब्रह्मवादियों के लिये ऐसा मौन अयुक्त है।

(५) देश किसे कहते हैं? जिसमें आदि, मध्य और अन्त में जन विद्यमान न हों। जिसमें यह सब प्रपञ्च निरन्तर व्याप्त हो वह जनों से रहित विजन ही देश कहा गया है।

(६) काल किसे कहते हैं? सम्पूर्ण भूतों की कल्पना ऐसे है जैसे ब्रह्मादिकों का एक निमेष, उसी अद्वय अखण्डानन्द परब्रह्म को काल शब्द से कहा गया है।

(७) आसन किसका नाम है? जिसमें सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्म चिन्तन हो सके वास्तव में वही आसन है, शेष जो आसन

हैं वे तो सुख को विनाश करने वाले हैं। एक सिद्धासन होता है, तो सिद्धासन उसी को समझना चाहिये जिसमें सम्पूर्ण भूतों के आदि, विश्व के अधिष्ठान, अद्वय ब्रह्म की सिद्धि हो, अथवा जिस ब्रह्म को प्राप्त करके सिद्ध लोग सिद्धि को प्राप्त हुए हों वास्तव में वही सिद्धासन है।

(८) मूलबन्ध क्या ? जो सभी लोकों का मूल है, जो चित्त के बाँधने का मूल स्थान है। उसी मूलबन्ध की सदा सेवा करनी चाहिये। ब्रह्मवादियों का वास्तव में वही सेव्य मूलबन्ध है।

(९) देहसाम्य क्या ? अङ्गों की समता को जानकर उसे सम-ब्रह्म में लीन कर देना यही देहसाम्य है। सूखे वृक्ष की भाँति सीधे समान बैठे रहने को देहसाम्य नहीं कहते।

(१०) दृकस्थिति किसे कहते हैं ? ज्ञानमयी दृष्टि करके जगत् को ब्रह्ममय देखना वही परम उदार दृकदृष्टि है। नासिका की ओर देखते रहना यह दृक् स्थिति नहीं। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन यह जो त्रिपुटी है इसका जहाँ जाकर विराम हो जाय, वहीं दृष्टि को स्थिर करे, नासिका की ओर देखते रहना दृकस्थिति नहीं है।

(११) प्राणायाम क्या ? चित्त आदि सर्वभावों में ब्रह्मत्व की ही भावना करना तथा समस्त चित्त की वृत्तियों का निरोध करना वास्तव में तो इसी का नाम प्राणायाम है। पूरक, कुम्भक और रेचक तीन प्रकार का प्राणायाम होता है। प्रपञ्च का निषेध करना यही रेचक प्राणायाम है। मैं ब्रह्म ही हूँ इस वृत्ति का ही नाम पूरक प्राणायाम है। इसी भाव में वृत्ति को सदा निश्चल बनाये रखना अपनी वृत्ति से कभी च्युत न होने का ही नाम कुम्भक है। वास्तव में यही प्रबुद्ध पुरुषों का प्राणायाम है। नासिका को मूँदकर उसे पीड़ा पहुँचाना यह प्राणायाम नहीं है।

(१२) प्रत्याहार क्या ? विषयों में आत्मबुद्धि को देखकर

मन से ही चित्तरञ्जन हो, इसी का नाम प्रत्याहार है इसी का बार-बार अभ्यास करना चाहिये कि विषय, चित्तादि सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म है।

(१३) धारणा क्या ? जहाँ-जहाँ भी मन जाय, वहाँ-वहाँ ही ब्रह्म का दर्शन हो, इस प्रकार मन के द्वारा की हुई धारणा का ही नाम वास्तविक परा धारणा है।

(१४) ध्यान क्या ? "मैं ब्रह्म ही हूँ, इस प्रकार की सद्वृत्ति से जो निरालम्ब वाली स्थिति है उसी का नाम ध्यान है, यह ध्यानवृत्ति परमानन्ददायिनी है।

(१५) अच्छा, समाधि किसे कहते हैं ? चित्त की वृत्ति का निर्विकार होकर फिर ब्रह्माकार हो जाना। फिर वृत्ति का भी विस्मरण हो जाना, वास्तव में उसी को समाधि कहते हैं।

योग के जो अष्टाङ्ग हैं वे तो कृत्रिम हैं। इन अङ्गों का आनंद अकृत्रिम है। साधक को तब तक इनका अभ्यास करना चाहिये, जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो। एक क्षण भी वृत्ति ब्रह्माकार से हटकर विषयाकार न हो, जब सतत वृत्ति ब्रह्माकार हो जाय, तब साधन से निर्मुक्त हो जाय, तभी वह योगिराज सिद्ध हो जाता है। उस समय वह मन वाणी तथा कर्म से तत्त्वरूप ही हो जाता है।

यही ब्रह्म समाधि है, इस समाधि को करते समय बलपूर्वक बहुत से विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। उनमें इतने विघ्न मुख्य हैं। १–अनुसंधान से रहित होना, २–आलस्य, ३–भोगों के भोगने की लालसा, ४–लय, ५–तमोगुण, ६–विक्षेप, ७–तेज, ८–स्वेद होना तथा ९–शून्यता आ जाना। इस प्रकार इन विघ्नों को त्यागना चाहिये। देखो, वृत्ति भावमय होती है तो भाव होता और वृत्ति शून्यमय होती है, तो शून्यता आ जाती है। वास्तव में ब्रह्म वृत्ति

ही पूर्णत्व वृत्ति है, इसलिये पूर्णत्व का ही अभ्यास करना चाहिये। जो साधक पुरुष इस परम पावन ब्रह्मवृत्ति को छोड़कर जीवित रहते हैं उनका जीवन पशुओं के सदृश वृथा ही है। और जो इस ब्रह्मवृत्ति को जानते हैं और जानकर इसे बढ़ाते रहते हैं, वे ही सत्पुरुष हैं वे परमधन्य हैं। वे वन्दनीय हैं। जो इस वृत्ति से रहित हैं, वे चाहें कितने भी कुशल क्यों न हों उनका आवागमन छूटता नहीं। ब्रह्मा, सनक सनन्दनादि तथा शुकदेव जैसे परमहंस आधो निमिष को भी ब्रह्ममयी वृत्ति के बिना नहीं रहते। इस वृत्ति को धारण करके विद्वान् नित्य ही सुख पूर्वक रहते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यहाँ पर तेजोविन्दु उपनिषद् का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।"

अब द्वितीय अध्याय में शिवजी से षडानन कुमार ने पूछा—"भगवन्! आप मेरे प्रति अखण्ड, एकरस को कहिये।"

यह सुनकर परमशिव भगवान् शंकर ने कहा—"यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् अखण्ड एकरस है। भाव, स्वयं, मन्त्र, क्रिया, ज्ञान, जल, भूमि, आकाश, शास्त्र, वेदत्रयी, ब्रह्म, व्रत, जीव, अज, ब्रह्मा, हरि, रुद्र, अहं, आत्मा, गुरु, लक्ष्य, मद, देह, मन, चित्त, सुख, विद्या, अव्यय, नित्य, परम, किंचित्, कहाँ तक गिनावें। संसार का कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो अखण्ड एकरस न हो। स्थूल, सूक्ष्म, वेद्य, तुम, मैं, गुह्य, आदि, ज्ञाता, स्थिति, माता, पिता, भ्राता, पति, सूत्रात्मा, विराट्, गात्र, शिर, अन्तःकरण, बाह्य इन्द्रियादि, पूर्ण, अमृत, गोत्र, घर, गोप्य, शशि, तारा, रवि, क्षेत्र, क्षमा, शान्त, अगुण, साक्षी, सुहृद, बन्धु, सखा, राजा, पुर, राज्य, तार, जप, ध्यान, पद, ग्राह्य, महत, ज्योति, धन, भोज्य, हवि, होम, स्वर्ग, जो भी कुछ है वह सबका

सब अखण्ड एकरस है। इस संसार में नीरसता और जड़ता तो है ही नहीं। जो भी कुछ है सबका सब चिन्मात्र है। जो भी कुछ देखा, सुना, अनुभव किया जाता है, सबका सब चिन्मात्र ही है। समस्त लोक, तू, मैं, आकाश, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, ब्रह्मा, हरि, शिव, भूत, भव्य, भविष्य, द्रव्य, काल, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, सम्भाषण, सत्, असत्, सदा, आदि-अन्त, गुरु-शिष्य, दृग्-दृश्य, देह, लिंङ्ग, कारण, मूर्त-अमूर्त, पाप-पुण्य, जीव, विग्रह, चिन्मात्र से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। चिन्मात्र के अतिरिक्त संकल्प, वेदना, मन्त्र, देवता, दिग्पाल, व्यावहारिकता, परब्रह्म, माप, पूजन, सत्य, कोश, वसु, मौन, अमौन तथा वैराग्य आदि कुछ जो भूत, भविष्य-वर्तमान, दूर, समीप सब कुछ चिन्मात्र ही है, अखण्ड एकरस ब्रह्म चिन्मात्र ही है।

शिवजी कह रहे हैं—"शास्त्रों में, मुझमें, तुम मे, ईश में, सबमें, अखण्ड एक रस ही रस है। तुम भी अखण्ड एकरस ही हो। जो इस प्रकार सबमें अखण्ड एकरसता की एकरूपता को जान जाता है वह मैं ही हूँ, अर्थात्, ऐसा जानने वाला मेरा ही स्वरूप हो जाता है। जो इस ज्ञान को एक बार भी जान लेता है उसकी मुक्ति हो जाती है। जिसे इसका भली प्रकार ज्ञान हो जाता है वह तो स्वयं गुरु ही हो जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यहाँ आकर तेजबिन्दु उपनिपद् का दूसरा अध्याय समाप्त होता है, अब तीसरे अध्याय को श्रवण करें।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! तृतीय अध्याय के आरम्भ में षडानन कार्तिकेय कुमार ने अपने पिता शिवजी से पूछा—"आप आत्मानुभव को बतावें ?"

इस पर शिवजी ने कहा—"परब्रह्म स्वरूप मैं ही हूँ। परमा-

नन्द स्वरूप भी मैं ही हूँ। मैं ही केवल शान्तरूप, चिन्मय, नित्य रूप, शाश्वत, सत्त्वरूप, सर्वहीनस्वरूप, चिदाकाशमय, तुर्यरूप, तुर्यातीत, चैतन्यरूप, चिदानन्दमय कहाँ तक गिनावें सर्वमय मैं ही हूँ, मुझे छोड़कर दूसरा कोई भी नहीं है। मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही सिद्ध, शुद्ध, निर्गुण, निराकार हूँ। मैं स्वयमेव स्वात्म सिंहासन पर स्थित होकर स्वात्मा के अतिरिक्त कुछ भी चिंतन नहीं करता। मैं सर्वदा सर्व शून्य हूँ। मैं ही सत्यानन्द स्वरूप हूँ, मैं ही सदा नंद ब्रह्म हूँ। सब कुछ सर्वत्र सर्वदा मैं ही मैं हूँ। 'अहं ब्रह्मास्मि' जो यह मन्त्र है यह दृश्य पापों को नाश कर देता है। कहाँ तक कहें 'अहं ब्रह्मास्मि' यह मन्त्र समस्त व्याधियों का विनाश कर देताहै। इसलिये 'अहं ब्रह्मास्मि' जो मन्त्र है ज्ञानानन्द को देने वाला है इसलिये सभी मन्त्रों का परित्याग करके इसी एक मन्त्र का अभ्यास करना चाहिये,इससे तुरन्त मुक्ति हो जाती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यहाँ तेजोविन्दु उपनिषद् का तीसरा अध्याय समाप्त होता है।"

अब चौथे अध्याय में कुमार ने शिवजी से जीवन्मुक्त और विदेह मुक्त स्थिति के सम्बन्ध में पूछा, इस पर शिवजी ने बताया मैं चिदात्मा हूँ, परात्मा हूँ, परात्पर हूँ जो इस प्रकार आत्ममात्र द्वारा रहता है वही जीवन्मुक्त कहाता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों देहों के अतिरिक्त मैं शुद्ध चैतन्य हूँ मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा जिसके अन्तःकरण में दृढ़ निश्चय हो गया है वही जीवन्मुक्त है। मैं देह नहीं, प्राण नहीं, माया, काम, द्वेष, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, तीर्थ, पुण्य, पाप, मोक्ष, द्वैत, मोक्ष, भूत, मित्र, शत्रु, रस, रक्तादि, त्याज्य-ग्राह्य, जरा-बाल्य-इनमें से मैं कुछ भी नहीं,

मैं ब्रह्म ही ब्रह्म हूँ, ऐसी जिसकी वृत्ति सदा सर्वदा हो वही जीवन्मुक्त है। मैं स्वय ही सब कुछ हूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार सब कुछ मैं ही हूँ इसके अनेक विशेषण देकर अन्त में शिवजी ने कुमार से कहा है—"हे षडानन! तुम अपने आप अपनी आत्मा को ही देखो, आत्मा का ही बोध करो। अपनी आत्मा का स्वयं ही भोजन करके स्वस्थ हो जाओ। अपनी आत्मा में स्वयं ही तृप्त हो जाओ, आत्मा में स्वयं विचरण करो। आत्मा मे ही आनदानुभूति करे, यही विदेह मुक्ति है। इसी से वैदेही हो जाओगे। इस प्रकार यहाँ तेजबिन्दु उपनिषद् का चौथा अध्याय समाप्त होता है।"

अब पाँचवें अध्याय में महामुनि निदाघ और महर्षि ऋभु का सवाद है।

निदाघ मुनि ने महर्षि ऋभु से पूछा—"आत्मा का आत्मविवेक कहे।"

इस पर महर्षि ऋभु ने कहा—"समस्त वचनों की जहाँ अवधि है वही ब्रह्म है। जहाँ समस्त चिन्ताओं की अवधि है वही गुरु है। वह परब्रह्म सर्वकारण कार्यात्मा है, कार्य कारण वर्जित है। वह सर्व सकल्प से रहित है, सर्वनादमय है, शिव स्वरूप है। वह परात्पर सर्वानन्दमय है। वह सभी प्रकार के शब्द, वाक्य, सिद्धांत आदि से वर्जित है। कोई शब्द, कोई मंत्र, कोई उपमा, कोई वाच्यवाचक उसे व्यक्त करने में समर्थ नहीं। वह सबसे वर्जित है। यह जगत् ब्रह्ममात्र ही है, ब्रह्म ही तुम हो, ब्रह्म ही मैं हूँ। तुम वाणी से, मन से, बुद्धि से, चित्त से, जो भी जान सकते हो वह कुछ भी नहीं। यह जो उत्पत्ति, स्थिति, सहार, मन्त्र, तन्त्र यह सब कुछ नहीं है। यह सब कुछ कहा सुना देखा अनुभव किया हुआ मिथ्या है। स्वस्वरूप आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

ये जितने वेद शास्त्र कथोपकथनादि हैं सब शशक शृङ्ग के सदृश मिथ्या हैं। मैं देह हूँ ऐसी बुद्धि तृष्णा और दोषमय है। यह जो भी कुछ है सब संकल्प जाल है, यह सब मन की कल्पनामात्र है। यह जो संसार है, लोक हैं, दुःख, जरा, काल, मल, संकल्प, जीव, चित्त, अहङ्कार, दृश्य, जड़ तथा द्वन्द्व जालादि सब कुछ मन ने ही निर्मित कर लिया है। यह जगत् नहीं है, नहीं है। न कोई गुरु है न शिष्य।

सूतजी कहते हैं—"यहाँ पर इस उपनिषद् का पंचम अध्याय समाप्त होता है। अब छटे अन्तिम अध्याय का सार सुनिये।

छटे अध्याय में निदाघ मुनि से ऋभु महर्षि कह रहे हैं—"देखो, यह जो भी कुछ दृष्ट श्रुत है, सबका सब सच्चिदानन्द मय है। यह सब सच्चिदानंद अद्वैत अद्वय है। तुम भी सच्चिदा नन्द हो, मैं भी सच्चिदानन्द हूँ। वास्तव में देखा जाय तो तुम, हम कुछ भी नहीं है सब केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है। वाक्य, वेद, अक्षर, जड़, आदि, मध्य, अन्त, शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, भूत, स्तोत्र, नमस्कार, होम, ज्ञान, जप, तप, व्रत, तीर्थ, महा-वाक्य, अणिमादि सिद्धियाँ कुछ भी नाम रूप दृष्टश्रुत नहीं हैं सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। तद्–वह–मैं ही हूँ। मैं ही ब्रह्म हूँ। यह सब केवल ब्रह्ममात्र ही है और सब असत् है। जैसे बन्ध्या के पुत्र के वचन असत् हैं वैसे ही यह जगत् असत् है। जैसे शशक के सींग असत् हैं, जैसे मृग तृष्णा असत् है, जैसे गन्धर्व नगर असत् है, जैसे आकाश की नीलिमा असत् है, जैसे सीपी में चाँदी का भान असत् है, जैसे रज्जु में सर्प को भ्रान्ति असत् है। जैसे गीले केले के काष्ठ से वाक नहीं बनाया जा सकता, जैसे तुरन्त उत्पन्न लड़की भोजन नहीं बना सकती, जैसे चित्र में लिखे दीपक से अंध-

कार दूर नहीं हो सकता, जैसे एक महीना पहिले मरा मनुष्य फिर लौटकर नहीं आ सकता, ऐसे ही यह जगत् कभी भी सत्य नहीं हो सकता। जैसे तक्र फिर दूध नहीं हो सकता, जैसे गौ के स्तन से निकला दूध फिर गौ के स्तनों में नहीं भरा जा सकता, जैसे कछुआ की पीठ के बालों से हाथी नहीं बाँधा जा सकता, जैसे कमल की नाल के तन्तुओं से सुमेरु पर्वत हिलाया नहीं जा सकता, जैसे समुद्र की तरङ्ग मालाओ से घोड़ा नहीं बाँधा जा सकता, जैसे अग्नि की ज्वाला नीचे की ओर नहीं जा सकती, जैसे अग्नि की जलती हुई लपटें शीतल नहीं हो सकतीं, जैसे जलती हुई अग्नि की ज्वाला में कमल नहीं उत्पन्न हो सकता, जैसे हिमालय इन्द्र नील के सदृश नील नहीं हो सकता, ऐसे ही यह जगत् कभी सत् नहीं हो सकता।

जैसे मशक द्वारा सिंह का मारा जाना सम्भव नहीं, जैसे नपुंसक के पुत्र होना संभव नहीं, जैसे शशक के शृङ्ग से रथ का निर्माण सम्भव नहीं, जैसे वन्ध्या के गर्भ सम्भव नहीं, वैसे ही इस जगत् का अस्तित्व सम्भव नहीं है। केवल ब्रह्म ही ब्रह्म सत् है और सबका सब असत् है। 'अहं ब्रह्म' मैं ही ब्रह्म हूँ, ऐसा निश्चय करके अहं को भी त्याग दे, केवल ब्रह्म ही ब्रह्म सत्य है। अहं ब्रह्म-मैं ही ब्रह्म हूँ इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं। मैं ही चिदात्म ब्रह्म हूँ। इसमें से अहं को भी छोड़ दे।

यही शांकरी महाशास्त्र है। इसे जिस किसी को नहीं देना चाहिये। नास्तिक, कृतघ्न, दुराचारी तथा दुष्ट को इसे न देना चाहिये। जिसका गुरुभक्ति से अन्तःकरण विशुद्ध बन गया हो ऐसे महात्मा को उसकी भली प्रकार परीक्षा करके इसे देना चाहिये। पहिले एक महीना, छैः महीना, एक वर्ष तक उसे पास रखकर परीक्षा कर लेनी चाहिये और सब उपनिषदों को द

ही सादर त्यागकर केवल तेजोविन्दूपनिपद् का ही सदा सर्वदा अभ्यास करना चाहिये। एक बार के अभ्यास से ही साधक ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है। साक्षात ब्रह्म ही हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मूल उपनिपद् में तो एक विषय की सैकड़ों उपमायें दी हैं। मैंने तो उनमें से कुछ थोड़ी सी ही उपमायें देकर उसका सार सार समझाने की चेष्टा की है। उसमें जो भी कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों उन्हें सारग्राही सज्जन क्षमा करें और सुधार लें। इस प्रकार तेजो विन्दु उपनिपद् का सार सुनाकर अब मैं नाद विन्दु उपनिपद् का सार सुनाऊँगा।"

छप्पय

ब्रह्म समाधि बताय समाधिहिँ विघ्न बताये।
ब्रह्म वृत्ति अपनाइ तासु के गुन जतलाये॥
इकरस सबहिँ अखंड ब्रह्ममय जगत सकल है।
चिन्मय ब्रह्म स्वरूप ब्रह्म ही सत् केवल है॥
मैं ही ब्रह्म स्वरूप हूँ, जगत सच्चिदानन्द भजि।
भयो, होइगो, न है जग, अहं ब्रह्म तैं अहं तजि॥

इति तेजोबिन्दु-उपनिपद्-सार समाप्त

—:—

[३००]

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यम्
वायुः स्थिरो यस्य विनाप्रयत्नम् ।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बम्
स ब्रह्मतारान्तर नाद रूप ॥*
(ना० बि० उ० ५६ मं०)

छप्पय

नादबिन्दु उपनिषद् प्रणव को ध्यान बतावै ।
हंसरूप है प्रणव अङ्ग तिहि साम्य दिखावै ॥
बारह मात्रा प्रणव प्राण जो त्यागै इनिमें ।
फल तिनिको का होइ जाइ मरि किनि लोकनिमें ॥
योगयुक्त थिति कौन-सी, ज्ञानीकूँ प्रारब्ध नहिं ।
विविध रूप हैं नाद के, मनवश कस सो सब कहहिं ॥

वेदों में हंस की बड़ी उपमा दी गयी है। एक वेद मंत्र में श्री विष्णु भगवान् को हंस रूप से उपमा दी गयी है। हंस नीर

---

* बिना दृश्य के जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है, बिना प्रयत्न के जिसकी वायु स्थिर हो जाती है। बिना अवलम्ब के जिसका चित्त स्थिर हो जाता है। वही योगी ब्रह्मतारक प्रणव के अन्तर्गत तुरीयरूप नाद में स्थित है।

और क्षीर को पृथक्-पृथक् कर देता है। एक बार सनकादि कुमारों ने लोकपितामह ब्रह्माजी से जाकर कहा—"ये शब्द, रूप रसादि विषय मन में समा जाते हैं, और मन विषयों का संसर्ग पाकर विषयमय-तन्मय-हो जाता है। जब वे दोनों ही परस्पर में मिलकर तद्रूप हो जाते हैं, तो मन को विषयों से हटाया कैसे जा सकता है ? इसी प्रकार यह जड़ शरीर चैतन्य के संसर्ग से तन्मय हो जाता है, फिर जड़ से चैतन्य को पृथक् कैसे करें ?"

प्रश्न गम्भीर था, ब्रह्माजी को इसका कोई उत्तर नहीं सूझा। उन्होंने स्पष्ट कहा—"भाई, इसका मैं उत्तर नहीं दे सकता।" तब उन्होंने समुद्र जैसे इस गम्भीर प्रश्न के पार पाने के लिये भगवान् का ध्यान किया। तभी भगवान् हंस का रूप बनाकर सनकादि और ब्रह्माजी के समीप आये। ब्रह्माजी का हंस तो वाहन ही है, किन्तु इस विलक्षण दिव्य हंस को देखकर पुत्रों सहित ब्रह्माजी ने उठकर उनका आदर किया और पूछा—"आप कौन हैं ?"

हंस भगवान् ने कहा—"आपका प्रश्न आत्मा के सम्बन्ध में है या शरीर के सम्बन्ध में ? यदि आत्मा के सम्बन्ध में है, तो आत्मा तो एक ही है उसमें तो यह प्रश्न उठ ही नहीं सकता। यदि शरीर के सम्बन्ध में है, तो शरीर तो सभी पंचभूतों के हैं। उसके सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न निरर्थक है।" इस उत्तर से ब्रह्माजी समझ गये ये भगवान् हैं। तब अपना प्रश्न उनसे पूछा। उन्होंने कहा—"देखो मन भी जड़ है विषय भी जड़ हैं, जड़ का जड़ में मिलना तो सम्भव है। किन्तु चैतन्य आत्मा का जड़ शरीर में तन्मय होना सम्भव नहीं। क्योंकि सजातीय एक दूसरे में मिल सकते हैं विजातीय नहीं। अतः चैतन्य आत्मा का जड़ शरीर में तन्मय होना असम्भव है। आत्मा तो सदा नित्य, शुद्ध बुद्ध

चैतन्य और निर्लेप निरंजन है।" हंस भगवान् ने इस प्रकार ब्रह्माजी की शङ्का का समाधान कर दिया।

जो वेद का सहस्राद्यं मंत्र है। उसका भाव यह है, उस स्वर्ग की ओर उड़ने वाला श्री विष्णुरूपी एक हंस है। जिस स्वर्ग में सूर्य विचरण करते हैं। यहाँ विष्णु से उनका तात्पर्य प्रणव से ही है। क्योंकि श्रीविष्णु का वाचक प्रणव ही है और वाच्य-वाचक में कोई भेद नहीं होता। तो उस प्रणवरूपी हंस के दो पख हैं। पूर्व का आकाश अकार रूप पूर्व का पंख है और पश्चिम का आकाश उकार रूप पश्चिम का पंख है। वह ओंकार रूप हंस सत्त्व प्रधान देवताओं को अपने सत्त्वमय हृदय में स्थापित करके समस्त लोकों को प्रत्यक्ष देखता हुआ ब्रह्मलोक तक उड़कर पहुँच जाता है। अतः जो प्रणवोपासक साधक हैं, वे उस प्रणवरूप हंस पर आरूढ़ होकर हंस की उपासना के प्रभाव से वे भी ब्रह्मलोक पर्यन्त पहुँच जाते हैं। भाव यह है कि त्रयीविद्या के उपासक गृही, सकाम कर्म उपासक केवल स्वर्ग-लोक तक ही जा सकते हैं, किन्तु जो त्यागी अप्रजावान यति हैं, वे केवल प्रणव की उपासना से ब्रह्मलोक तक चले जाते हैं।

हंस परम पवित्र पक्षी है, वह केवल मोती ही खाता है। उसमें एक गुण विशेष है, कि दूध में मिले पानी को पृथक कर देता है, दूध को पृथक् कर देता है। नीर-क्षीर विवेक हंस का विशिष्ट गुण है। इसीलिये उसकी उपमा प्रणव के साथ की गयी है। प्रणव भी जड़ और चैतन्य के संमिश्रण को पृथक सिद्ध कर देता है। इसीलिये नादबिन्दूपनिषद् में प्रणव की समता हंस के साथ की है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रणव की समता हंस के साथ करते हुए भगवती श्रुति बताती है, कि प्रणव में अकार, उकार

और मकार तीन अक्षर तथा अर्धमात्रा है। तो अकार तो प्रणव रूप हंस का दक्षिण पंख है। उकार उत्तर पंख है, मकार पूँछ है और शेष जो अर्धमात्रा है वह मानों प्रणव हंस का मस्तक है। उसके पाद आदि अंग हैं वे मानों गुण हैं, उसका शरीर मानों तत्त्व हैं। धर्म इस हंस का दक्षिण चक्षु है। अधर्म उत्तर चक्षु है, भूलोक इसके दोनों पैर हैं, भुवर्लोक दोनों जानु हैं। स्वर्गलोक कटिप्रदेश है, नाभिदेश महर्लोक है। हृदयदेश जनलोक है, कंठ तपलोक है। भौंयें और ललाट के मध्य में सत्यलोक है। श्रुति ने भी सहस्राक्ष मंत्र में इसी भाव को प्रदर्शित किया है। इसलिये जो साधक प्रणवरूप हंस के चिन्तन में निमग्न होकर हंस पर आरूढ़ होकर प्रणव ध्यान विधि से कर्मानुष्ठान करते हैं वे करोड़ों पापों से निर्मुक्त हो जाते हैं।

अब प्रणव की बारह मात्राओं को बताते हैं। (१) प्रणव की एक अकार रूप आग्नेयी मात्रा है, (२) दूसरी उकार रूप वायु की मात्रा है। (३) तीसरी मकार रूप उत्तर मात्रा सूर्यमंडल के सदृश है तथा सूर्य उसके देवता हैं। (४) चौथी परमा अर्धमात्रा है जिसे विद्वान् लोग वारुणी कहते हैं। इन चारों मात्राओं में से प्रत्येक मात्रा तीन-तीन कला रूप मुखों द्वारा प्रतिष्ठित है। इस प्रकार यह ओंकार बारह मात्राओं वाला कहा गया है। जिसे धारणा, ध्यान तथा समाधि द्वारा ही जाना जा सकता है। अब उन बारहों मात्राओं के नाम बताते हैं—

(१) पहिली मात्रा का नाम घोषिणी है। (२) दूसरी का नाम विद्या है, (३) तीसरी का नाम पतंगिनी, (४) चौथी का नाम वायुवेगिनी, (५) पाँचवीं का नाम नाममेधा, (६) छठी का नाम ऐन्द्री है। (७) सातवीं का नाम वैष्णवी, (८) आठवीं का नाम शाङ्करी, (९) नवमीं का नाम महती, (१०) दशवीं का नाम

धृति, (११) ग्यारहवीं का नाम नारी और (१२) बारहवीं का नाम ब्राह्मी है। इस प्रकार प्रणव की ये बारह मात्रायें हैं। अब यह बताते हैं, इनमें से किस मात्रा मे साधक की मृत्यु हो, तो वह किन-किन लोकों को प्राप्त होगा।

यदि पहिली घोषिणी मात्रा में साधक की मृत्यु हो तो उसका जन्म भारतवर्ष में होगा और वह सार्वभौम राजा बनेगा। यदि दूसरी विद्या मात्रा मे मृत्यु हो तो उपदेवों की जो यक्षयोनि हैं उसमें उसका जन्म होगा। यदि तीसरी पतंगिनी मात्रा में मृत्यु हो तो वह विद्याधर हो, चतुर्थी में गन्धर्व, पाँचवीं में तुषित नाम देवगणों मे उत्पन्न होकर सोमलोक में निवास करता है। छठी में इन्द्र का सायुज्य, सातवीं में वैष्णवपद, आठवीं में रुद्रलोक मे पशुपति शिव का सामीप्य, नौवीं में महर्लोक, दशवीं में जनलोक, ग्यारहवीं में तपलोक और बारहवीं में शाश्वत ब्रह्मलोक की मृत्यु के अनन्तर प्राप्ति होती है।

इससे भी परतर शुद्ध, व्यापक, निर्मल, कल्याणकारी, सदा उदित, परब्रह्म तत्त्व है, उसी से सूर्य चन्द्रादि ज्योतियों का उदय होता है। जब मन अतीन्द्रिय गुणातीत तत्त्व में लीन होता है तब वह अनूपम, शिव, शान्त स्वरूप होता है तभी वह योगयुक्त कहलाता है। साधक को उस योग में युक्त होकर तन्मय बनकर शनैः शनैः शरीर का परित्याग कर देना चाहिये। तब वह योग के द्वारा सर्वसङ्ग विवर्जित होकर स्थित होता है। तब वह संसार के बन्धन से विलीन होकर विमल तथा कमला प्रभु बन जाता है अर्थात् कैवल्य पद को प्राप्त करके परमानन्द स्वरूप हो जाता है। इसलिये आत्मा को निरन्तर जानकर हे महामति पक्षा-नन! अपने समय को व्यतीत करो। तुम प्रारब्ध कर्मों को भोगते हुए उद्वेग को प्राप्त मत होओ। जब तत्त्वज्ञान

हो जाता है तब भी प्रारब्ध स्वयं नहीं छोड़ता। वास्तविक बात तो यह है तत्त्वज्ञान हो जाने पर प्रारब्ध रहता ही नहीं। ज्ञानी उन सब कर्मों को उसी प्रकार असत् समझता है जैसे जागने पर स्वप्न में देखे पदार्थों को असत् मानता है। प्रारब्ध है क्या? जन्मान्तर में जो कर्म किये हैं उन्हीं में से जो इस जन्म में भोगने वाले कर्म हैं वे ही प्रारब्ध कहलाते हैं। जिसे ज्ञान हो गया है उसके लिये जन्मान्तर है ही नहीं। इसलिये ज्ञानी पुरुष–के लिये तो प्रारब्ध का अभाव ही होता है। जैसे स्वप्न में जिस देह से भोग भोगते हैं–वह देह थोड़े ही है, देह का अध्यास मात्र होता है। उसी प्रकार यह जाग्रत काल का जो शरीर है, यह भी तो स्वप्न के शरीर के सदृश अध्यासमात्र ही है। जो अज्ञान वश अध्यस्त वस्तु है, उसकी उत्पत्ति होती ही नहीं। जब उसका जन्म ही नहीं तो उसकी स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है? इस प्रपञ्च का उपादान कारण आत्मा है। आत्मा से ही जगत् है। जैसे मिट्टी के घड़ा आदि का उपादान कारण मिट्टी है। वेदान्तियों का कहना है कि यह प्रपंच अज्ञान के कारण आत्मा में भासता है। जैसे घड़ा फूट जाय तो फिर घड़े का अस्तित्व नहीं रहेगा, मिट्टी-ही-मिट्टी रह जायगी। इसी प्रकार अज्ञान के नष्ट हो जाने पर विश्व की विश्वता रहेगी ही नहीं। केवल आत्मा ही आत्मा अवशिष्ट रह जायगा।

जैसे कहीं टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी पड़ी है, तो प्राणी भ्रमवश यह रज्जु है इस ज्ञान को तो भूल जाता है उसमें सर्प का अध्यारोप कर लेता है। इसी प्रकार सत्य जो आत्मा है उसे भूलकर मूढ़ लोग इसमें जगत् का अध्यारोप कर लेते हैं। जब भ्रम दूर हो जाने पर यह निश्चय हो गया कि यह सर्प नहीं रज्जु है तब वहाँ सर्प रहता ही नहीं। सर्प अज्ञानकाल में भी नहीं था और

ज्ञान होने पर उसमें से सर्प भाग भी नहीं गया। केवल अज्ञान दूर होते ही सर्प का अभाव हो जाता है, इसी प्रकार अधिष्ठान स्वरूप आत्मा का ज्ञान हो जाने पर इस जगत् प्रपच का भी अभाव हो जाता है, यह देह भी तो प्रपच के अन्तर्गत ही है। ज्ञान होने पर शरीर भी शून्यता में परिणत हो जाता है। जब देह का अस्तित्व नहीं तब प्रारब्ध का अस्तित्व भला कैसे रह सकता है।

यह प्रारब्ध तो अज्ञानी लोगों को समझाने के लिये दृष्टान्त के रूप में है। जैसे अध्यापक बच्चों को समझाता है, मेरे पास एक घोड़ा था उसमें दश सहस्र रुपये थे। आधे चोरों ने छीन लिये तो कितने बचे ? लड़के कहेंगे—"पाँच सहस्र बचे।" वास्तव में न उसके पास घोड़ा था, न एक भी पैसा, न चोर आये, न लूटा, न उसके पास दमडी बची। यह सब मूर्खों को समझाने को कल्पित वस्तुयें हैं। इसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर देह प्रारब्ध किसी का भी अस्तित्व नहीं रहता। जब ज्ञान हो जाय तब प्रणव और ब्रह्म की एकता के चिन्तन से नाद रूप में साक्षात् ज्योतिर्मय शिव स्वरूप परमात्मा का आविर्भाव होता है। जैसे आकाश में मेघ छा गये, सूर्यनारायण दिखायी नहीं देते। मेघों के हट जाने पर सूर्यनारायण प्रकाशित हो उठते हैं। जिस समय मेघ छाये हुए थे, उस समय सूर्यनारायण कहीं चले नहीं गये थे, मेघ के हटने पर कहीं से आ नहीं गये। वे तो सदा सर्वदा विद्यमान ही थे। इसी प्रकार अज्ञान के हट जाने पर सदा विद्यमान परमात्मा का प्रकाश होता है।

अब नादानुसन्धान कैसे करे, इसका प्रकार बताते हैं— "योगी साधक को चाहिये कि वह सिंहासन से बैठकर वैष्णवी मुद्रा को धारण करे। अर्थात् बाहर की ओर तो निर्निमेष दृष्टि

से देखना रहे, किन्तु भीतर की ओर से अपने लक्ष्य पर डटा रहे। तब ध्यानपूर्वक उसे दक्षिण कान में एक प्रकार का नाद (अनाहत शब्द) सुनायी देगा उसी पर ध्यान जमाकर उस शब्द को ही सुनता रहे। जब उस नाद पर निरन्तर चित्त की वृत्ति जम जायगी, तब बाहर के शब्द सुनायी ही न देंगे। वह नाद बाहर की ध्वनियों को आवृत कर लेगा। इस प्रकार पहिले एक पक्ष-अकार पर विजय प्राप्त करे। फिर द्वितीय पक्ष उकार को विजय करे, फिर तीसरे मकार पर विजय प्राप्त करके तुर्यपद-अर्थात् आत्म साक्षात्कार कर ले। इसी का नाम नादानुसंधान है।

अब यह बताते हैं, कि ये शब्द किस प्रकार के सुनायी देते हैं। आरम्भ में तो ये विविध प्रकार महान् शब्द सुनायी देते हैं, जब शनैः-शनैः नाद श्रवण का अभ्यास बढ़ जाता है, तब ये शब्द सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अति मधुर सुनायी देने लगते हैं। आरम्भ में तो समुद्र की गर्जना के समान, मेघ की गर्जना के सदृश, भेरी, निर्झर के सदृश सुनायी पड़ते हैं। मध्य में मृदंग, घंटा तथा नगारे की ध्वनि के सदृश और अन्त में किंकिणी, वंशी, वीणा भ्रमर की गुञ्जन के सदृश मधुर तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म सुरीले नाद सुनायी देते हैं।

अब यह बताते हैं, कि नाद श्रवण किस रीति से करना चाहिये। पहिले जब मेघ गर्जन आदि बड़े-बड़े शब्द सुनायी दें तो उसमें से मन को हटाकर सूक्ष्म में लगावे और सूक्ष्म से भी हटाकर सूक्ष्मतम तर में लगावे। इस प्रकार स्थूल से सूक्ष्म में, सूक्ष्म से स्थूल में मन को उन्हीं शब्दों में फँसाये रहे। इस क्षिप्त मन को इधर-उधर न भागने दे, उस नाद में मन को ऐसे मिला दे जैसे दूध में पानी को मिलाकर एकीभाव कर देते हैं। सम्पूर्ण प्रपंच से मन को हटाकर उस नाद में विलीन कर दे। उस नाद

में जहाँ मन विलीन हुआ तो नाद के साथ-ही-साथ मन चिदाकाश में विलीन हो जाता है। इसलिये संयमी साधक को नाद श्रवण के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय में मन को न जाने देना चाहिये। सभी विषयों से उदासीन होकर केवल अपने प्रति उत्सुक बनाने वाले नाद का ही सतत श्रवण करना चाहिये। उसी का निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। चित्त नाद में विलीन हो जाता है अतः समस्त चिन्ताओं, सम्पूर्ण चेष्टाओं का परित्याग करके नादानुसन्धान ही करते रहना चाहिये।

अब बताते हैं, कि नाद श्रवण द्वारा यह मन किस प्रकार वश में होता है। देखो, भौंरा है, वह पुष्पों के रस का पान करता है। यद्यपि उन पुष्पों में सुगन्ध भी है, किन्तु वह सुगन्ध में फसता नहीं, उस सुगन्ध की उपेक्षा करके रसपान में ही निमग्न रहता है। इसी प्रकार जब मनरूपी भ्रमर को नादानुसन्धान का रस मिल जायगा, तो वह विषय-वासनाओं की गन्ध की उपेक्षा कर देगा। सर्प को जब सुन्दर नाद का आनन्द मिल जाता है, तो वह अपनी समस्त चंचलता छोड़कर उस नाद के ही आनन्द में तन्मय होकर आनन्दमग्न हो जाता है। इसी प्रकार यह चित्तरूपी आन्तरिक सर्प नाद को श्रवण करते-करते उस नाद की मधुर गन्ध में आबद्ध हो जाता है, तो अपनी सम्पूर्ण चंचलता का परित्याग करके स्थिर हो जाता है। यह मन मतवाले हाथी के सदृश है। जैसे मतवाला हाथी अंकुश द्वारा वश में किया जाता है वैसे ही यह मनमतंग नादरूपी अंकुश से वशीभूत किया जा सकता है। जैसे मृग जाल से फँसाया जा सकता है, वैसे ही यह मनरूपी मृग नादरूप जाल से फँसाया जा सकता है। जैसे समुद्र की तरंगों को तट रोक लेता है वैसे ही मन की तरंगों को यह तटरूपी नाद रोकने में समर्थ होता है।

अब यह बतायेंगे कि इस अनहदनाद में मन किस प्रकार लय होता है–ब्रह्म तो प्रणव में संलग्न है, नाद में ज्योति स्वरूप ही है, उसमें मन लीन हो जाता है, यही विष्णु का परमपद है। शब्द तो आकाश का गुण है। अतः जब तक शब्दों का श्रवण अथवा उच्चारण होता है, तभी तक आकाश का भी संकल्प होता है। जहाँ इन वाह्य शब्दों का श्रवण उच्चारण बन्द हुआ तहाँ वह मन परब्रह्म परमात्मा में ही लीन हो जाता है। जब तक नाद है तभी तक मन है। नाद जितना जितना सूक्ष्म होता जायगा, मन भी उतना ही उतना सूक्ष्म होते-होते अन्त में अमन हो जायगा। शब्द सहित जो नाद है, वह अक्षर ब्रह्म में जाकर विलीन हो जाता है। जहाँ नाद निःशब्द हुआ समझ लो वही परमपद है। बाहरी शब्दों को न सुनते हुए निरन्तर मन को नाद श्रवण में ही फँसाये रखेंगे, तो समस्त वासनायें अपने आप ही नष्ट हो जायँगी। तब प्राण सहित निर्वासना हुआ मन निराकार ब्रह्म में विलीन हो जायगा। क्योंकि करोड़ों नाद, करोड़ों विन्दु ब्रह्म प्रणव रूप नाद में लीन हो जाते हैं।

जब मन अमन हो जाता है, तो उस समय मन की स्थिति कैसी हो जाती है इसका वर्णन करते हुए बताते हैं, कि जो योगी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से मुक्त हो चुका है, जिसके मन में किसी भी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं रही है, वह मृतक के सदृश रहता है। वास्तव में वह निःसन्देह मुक्त है। वह शंख के दुन्दुभि के शब्दों को कभी भी नहीं सुनता। उसकी देह सूखे काष्ठ के सदृश हो जाती है। उसकी उन्मनी अवस्था हो जाती है। वह मान-अपमान, शीत-उष्ण, तथा सुख-दुःख इन सबसे परे हो जाता है। समाधि के द्वारा वह इन सभी द्वन्द्वों का परित्याग कर देता है। उस अमना योगी का चित्त तीनों अव-

स्थाओं का कभी अनुगमन नहीं करता। वह जाग्रत तथा निद्रादि से सदा विनिर्मुक्त बना रहता है। वह सदा सर्वेश अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है। उसकी बिना दृश्य के दृष्टि स्थिर रहती है। बिना प्रयत्न के ही जिसकी वायु स्थिर हो जाती है। बिना अवलम्ब के ही जिसका चित्त स्थिर हो जाता है। यही योगी ब्रह्ममय प्रणव के अन्तर्गत–तुरीय स्वरूप नादरूप में स्थित है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यही नाद बिन्दु उपनिषद् है। यह योग सम्बन्धी नादानुसन्धान बताने वाली दिव्य उपनिषद् है। इसका सार मैंने आप सबको सुना दिया, अब आप ध्यानबिन्दु उपनिषद् का सार श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

(१)

स्वाभाविक जो शब्द नाद अनहद कहलावे।
सुनै दाहिने कान प्रथम अति घोष सुनावै॥
घनगर्जन, मिरदग, नगारे, घण्ट सरिस पुनि।
होइ सूक्ष्म अति सूक्ष्म किंकिणी, वशी, अलि-ध्वनि॥
नीर छीर में ज्यौं मिलै, नाद माहिँ त्यौं मिलै मन।
तातैं चिन्ता सकल तजि, नाद बिन्दुकूँ सतत सुन॥

(२)

नाद श्रवनतैं चचल मन अहिवत वश होवै।
सुनत सुनत नित नाद वृत्ति विषयनि मन खोवै॥
हरिन जाल में फँसै नाद त्यों मन फसि जावै।
होइ नाद मन लीन परम आनँद तहँ पावै॥
मन है जावै अमन जब, सकल द्वन्द्व मनके नसैं।
प्रणव ब्रह्ममय नाद में, उभय प्राण मनहू बसैं॥

इति नादबिन्दु-उपनिषद्-सार समाप्त

ध्यानविन्दु-उपनिषद्-सार

[३०१]

यदि शैल समं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥*

(ध्या० वि० उ० १ म)

छप्पय

ध्यान विन्दु उपनिषद् पाप पर्वतनि ढहावै।
बीज, विन्दु अरु नाद प्रणव महिमा बतलावै॥
सूक्ष्मतें हू सूक्ष्म ब्रह्म दुर्लक्ष्य तत्त्व अति।
ज्यों मणियनि में सूत्र ब्रह्म त्यों व्याप्त सबनि नित॥
फूल गन्ध तिल तेल ज्यों, ब्रह्म व्याप्त त्यों सबनि महँ।
तरु छाया वत ब्रह्म जग, सकल और निष्कल रहहिं॥

योग में कुण्डलिनी शक्ति की बड़ी प्रशंसा है। मूलाधार से लेकर सहस्रार चक्र तक जितने चक्र हैं, उन सबकी जानकारी साधक के लिये परमावश्यक है। कौन-सा कमल कै दल का है, क्या उसका रंग है, कौन उसका अधिष्ठातृ देव है, उसके दलों में कौन बीज मन्त्र का अक्षर है, इन बातों को जान लेने पर ही

---

* यदि बहुयोजन विस्तीर्ण शैल के सदृश भी पाप क्यों न हों, वे समस्त पाप ध्यान योग के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे घोर पाप अन्य किसी भी साधन से नष्ट नहीं होते हैं।

साधन द्वारा सुषुम्ना के द्वार से कुण्डलिनी शक्ति सहस्रदल कमल में पहुँच सकती है। ध्यान बिन्दु उपनिषद् में उसी के ध्यान की विधि बतायी गयी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कितने भी पाप क्यों न हों ध्यान योग द्वारा वे सबके सब दग्ध हो जाते हैं। देखो, बीज अक्षर से परे बिन्दु है और बिन्दु से परे नादस्थित है। उस नाद से सुन्दर शब्द का उच्चारण हुआ करता है। शक्ति रूप प्रणव नाद से भी परे है, वह शब्द नाद अक्षर के क्षीण होने पर निःशब्द अर्थात् शान्त नाम से परम पद है।

अनाहत जो शब्द है, उस शब्द से जो परे है उसे जो योगी जानता है, उसके समस्त संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। बाल का जो अग्रभाग है, उसके सौ भाग किये जायँ। उन सौ में से एक भाग को लेकर उसके सहस्र भाग किये जायँ, उनमें से एक भाग का भी जो अर्ध भाग है, उसी के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वह निरञ्जन परब्रह्म है। जैसे पुष्पों में गन्ध, दुग्ध में घृत, तिल में तैल और पाषाण में सुवर्ण व्याप्त है। उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों के भीतर वह परब्रह्म परमात्मा ऐसे व्याप्त रहता है, जैसे मणियों की मालाओं के भीतर सूत्र व्याप्त रहता है।' जिनकी बुद्धि स्थिर है, अज्ञान रहित ब्रह्मवित पुरुष सदा सर्वदा ब्रह्म में स्थिर रहते हैं। जैसे तिल में तैल पुष्पों में गन्ध व्याप्त है उसी प्रकार पुरुष के शरीर में भीतर बाहर आत्मा स्थित है। जैसे वृक्ष है और उसकी छाया है, दोनों का एक-सा रूप दीखता है किन्तु वृक्ष तो अपनी समस्त कलाओं के साथ स्थित रहता है, किन्तु वृक्ष की छाया समस्त कलाओं से हीन है। उसी भाँति आत्मा तो कलाओं के सहित सच्चिदानन्द रूप से स्थित है और यह छाया रूप जगत कला रहित लाभ से सर्वत्र अवस्थित रहता

है। ओंकार जो एकाक्षर ब्रह्म है, वह सभी मुमुक्षुओं द्वारा ध्येय है। प्रणव में अकार, उकार और मकार ये तीन शब्द हैं। ये तीनों क्या हैं ? पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, भूःव्याहृति और ब्रह्मा देव ये तो सब प्रणव के प्रथम अश अकार में लय को प्राप्त होते हैं। अब द्वितीय प्रणव अंश उकार है, उसमें अन्तरिक्ष लोक, यजुर्वेद, भुवः व्याहृति जनार्दन विष्णु देवता ये सब इस द्वितीयांश में लय को प्राप्त होते हैं। प्रणव का तृतीय अंश मकार है, उसमें स्वर्गलोक तथा सूर्यलोक, सामवेद, स्वः नाम की व्याहृति और महेश्वर देवता ये इन तृतीयांश मकार में लय को प्राप्त होते हैं। अब अकार, उकार और मकार के वर्णों को बताते हैं। अकार का वर्ण पीला है, वह रजोगुण वाला कहा गया है। उकार शुक्ल वर्ण वाला है वह सात्विक गुण युक्त है तथा मकार कृष्ण वर्ण का है और तमोगुण वाला है। ओंकार के आठ तो अंग हैं और चार पैर वाला है, त्रिस्थान वाला तथा पंचदेवताओं से युक्त है। जो ऐसे ओंकार को नहीं जानता वह ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण नहीं हो सकता। क्योंकि श्रुति में कहा है। प्रणव तो धनुष है, आत्मा बाण है, उसका वेधने का लक्ष्य ब्रह्म है। प्रमाद रहित होकर लक्ष्य को वेध करना चाहिये। बाण की भाँति तन्मय होकर उन परावर परब्रह्म परमात्मा को देख लेने पर समस्त क्रियायें निवृत्त हो जाती हैं। ओंकार से ही तो समस्त देवता उत्पन्न हुए हैं तथा ओंकार से ही समस्त स्वर उत्पन्न हुए हैं। कहाँ तक कहें समस्त त्रैलोक्य चराचर जगत् ओंकार से ही उत्पन्न हुआ है। ह्रस्व ओंकार पापों को दहन करता है, दीर्घ सम्पदा को देने वाला होता है तथा अर्धमात्रा समायुक्त प्रणव मोक्ष को देने वाला है। तैल की धारा के सदृश और दीर्घ घंटा निनाद के सदृश ऐसा जो प्रणवाग्र है वह

वाणी द्वारा कहे जाने योग्य नहीं है, ऐसे प्रणव के यथार्थ मर्म को जो जानता है, वास्तव में वही यथार्थ वेद विद है।

हृदय कमल की कर्णिका के मध्य में स्थिर शान्त दीप शिखा के सदृश आकृति वाला अगुष्ठ मात्र आकार वाले अचल ओंकार रूप ईश्वर का ध्यान करना चाहिये। इडा नाडी से वायु को भरना चाहिये अर्थात् पूरक प्राणायाम करना चाहिये। फिर जब वायु से उदर भर जाय तो उस उदर में स्थिति ओंकार को देहमध्यस्थ ओंकार ज्वालावली वृत परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। पूरक प्राणायाम के ब्रह्मा देवता हैं। विष्णु कुम्भक के हैं तथा रेचक के रुद्र देवता कहे गये हैं। अपनी आत्मा को तो अग्नि निकालने की नीचे वाली अरणि बना लो और प्रणव को उत्तर अरणि बना लो। ध्यान रूप निर्मन्थन के अभ्यास द्वारा निगूढ सदृश उस परब्रह्म को देखे।

ओंकार की जो ध्वनि है उससे जब तक वायु का सहरण न हो जाय, तब तक यथाशक्ति उसे धारण करना चाहिये, जब तक नाद का लय न हो जाय।

वह ओंकार गम आगम में स्थित होने पर भी गमनादि से शून्य है। कोटानकोटि सूर्यों के सदृश उसकी दीप्ति है। ऐसे जो हंस स्वरूप समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा में स्थित उन परब्रह्म परमात्मा को जो देखते हैं। वे निमल रज रहित हो जाते हैं। वहां उन विष्णु का परम पद है जिसमे जाकर वह मन विलय को प्राप्त हो जाता है। जिस मन ने इस जगत् की सृष्टि स्थिति आदि कर्म किये हैं।

देखो, हृदय का कमल आठ दल वाला है। बत्तीस केसर से सयुक्त है। उस अष्ट दल कमल के मध्य में अर्थात् सूर्य स्थित है और सूर्य के मध्य में चन्द्रमा स्थित है तथा

के मध्य में अग्निदेव स्थित हैं। उन अग्नि के मध्य में प्रभा स्थित है। प्रभा के मध्य में पीत स्थित है जो नाना प्रकार के रत्नों से संवेष्टित है। उसके मध्य में भगवान् वासुदेव निरञ्जन स्थित हैं। उन भगवान् का स्वरूप कैसा है? उनके वक्षःस्थल में श्री-वत्स और कौस्तुभ मणि शोभायमान है। अनेक प्रकार के मुक्ता मणियों द्वारा वह वक्षःस्थल विभूषित है। शुद्ध स्फटिक मणि के सदृश कोटानकोटि चन्द्रमाओं की प्रभा के सदृश समुज्वल। इस प्रकार के महाविष्णु का भाव नत होकर ध्यान करे।

पहिले पूरक प्राणायाम करे। पूरक करते समय नाभि स्थान में विष्णु भगवान् का ध्यान करे। कैसे हैं वे विष्णु भगवान्? उनका वर्ण अलसी के पुष्प के सदृश नील वर्ण का है। उन महावीर भगवान् की चार भुजायें हैं। भीतर को श्वास खींचते समय उनका ध्यान करे। जब कुम्भक के द्वारा वायु को भीतर रोके तब हृदय स्थान में ब्रह्माजी का ध्यान करे। कैसे हैं वे ब्रह्मा जी? उनके चार मुख हैं। लाल कमल की कर्णिका पर विराज-मान हैं, जिनकी आभा रक्त तथा गौर वर्ण की है और वे समस्त लोक के पितामह हैं। फिर रेचक प्राणायाम द्वारा शनैः-शनैः वायु को छोड़े। उस समय ललाट में स्थित शंकरजी का ध्यान करे। कैसे हैं वे शंकरजी? वे विद्या के स्वरूप हैं, तीन उनके नेत्र हैं, शुद्ध स्फटिक मणि के समान उनका उज्ज्वल वर्ण है, वे पाप विनाशक तथा निष्कल हैं।

सुषुम्ना के मध्य में नाभि, हृदय तथा ललाट में स्थित ये कमल सर्व देवमय हैं। इनमें से नाभि स्थान का कमल अष्टदल है, हृदय के कमल की नाल ऊपर है, उसका मुख नीचे है। ललाट कमल केले के पुष्प के सदृश नील-लोहित पंगन के सदृश रङ्ग वाला है। इन तीनों के अतिरिक्त मूर्धा देश में एक शतपत्र

कमल और है। यह कमल खिला हुआ है। उसकी कर्णिका विस्तीर्ण है। उस कमल की विस्तृत कर्णिका के मध्य में पहिले सूर्य, फिर चन्द्र, तदनन्तर अग्नि ये एक के ऊपर एक इस प्रकार अवस्थित हैं। पहिले ये कमल अधोमुख किये सुप्त रहते हैं, इसलिये ध्यान के द्वारा इनका उद्घाटन करना चाहिये। अर्थात् विकसित-जाग्रत-करना चाहिये। इन पद्मों पर जो बीज रूप में अक्षर हैं, उनके उच्चारण के द्वारा यह जीवात्मा समस्त जगत् के कार्यों का निर्वाह करता है।

जो साधक त्रिस्थान (नाभि, हृदय और ललाट) त्रिपात्र (पूरक, कुम्भक और रेचक) त्रिब्रह्म (ब्रह्मा विष्णु महेश) तीन अक्षर (अकार, उकार और मकार) और इनमें व्याप्त जो अर्ध-मात्रा स्वरूप परब्रह्म है, उसे जो यथार्थ रूप में जानता है, वास्तव में वही वेदवित् है। तैल की धारा के सदृश अविछिन्न, दीर्घ कालीन घटा निनाद के समान ध्वनि कारक, विन्दु, नाद और कला से अतीत जो प्रणव स्वरूप परब्रह्म है उसे जो भली भाँति जानता है वास्तव में वही वेदवेत्ता है।

जैसे मनुष्य कमल की नाल से पानी को खींचकर धीरे-धीरे पीता है उसी प्रकार योग पथ में स्थित योगी को शनैः शनैः वायु को खींचना चाहिये। जैसे कृषक रस्सी द्वारा कूप से जल निकालते हैं वैसे ही प्रणव की अर्धमात्रा को रज्जु बनाकर हृदय कमल रूप जो कूप है उसमें से जल रूपा कुण्डलिनी को मूलाधार आदि कमलों से खींचकर भ्रू के मध्य में नासिका की जड से लेकर जो ललाट तक स्थान है वहाँ ले जाय। वही अमृत स्थान है, वही ब्रह्म का आयतन-निवास स्थान-है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रणव के तीनो अक्षरों के साथ तीनों स्थान, तीनों देव, तीनो प्राणायामादि की

समता करके विष्णु के परम पद का वर्णन किया। अब आगे जैसे योग के छैऊ अगों का वर्णन करेंगे, उसे मैं आपको आगे बताऊँगा।"

छप्पय

नाभि, हृदय, सिर थान कुम्भ पूरक अरु रेचक।
ब्रह्मा, विष्णु, महेश, प्रणवत्रय अक्षर मात्रक॥
मात्रा आधे परे ब्रह्मकूँ जो जन जानें।
तिनिही कूँ विद्वान ब्रह्मवित ज्ञानी मानें॥
कमल नाल जस पियत जल, तस प्राणनि खींचे सुनर।
ज्यों जल खींचत कूपतें, त्यों कुण्डलिनी लाइ सिर॥